

गीताविज्ञानभाष्य-आचार्य-रहस्यान्तर्गत

[पञ्चमखण्ड]

ईश्वरकृष्ण-रहस्य

पं० मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथी-पथिक

प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।



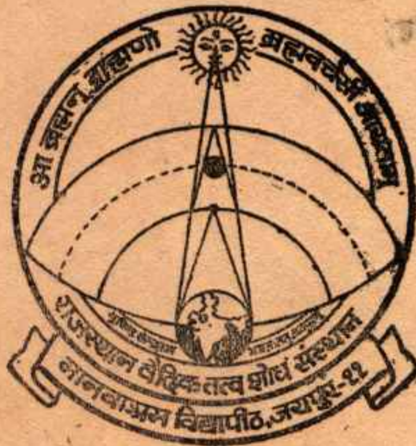
गीताविज्ञानभाष्य-आचार्य-रहस्यान्तर्गत

[पञ्चमखण्ड]

ईश्वरकृष्ण-रहस्य

पं० मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथी-पथिक



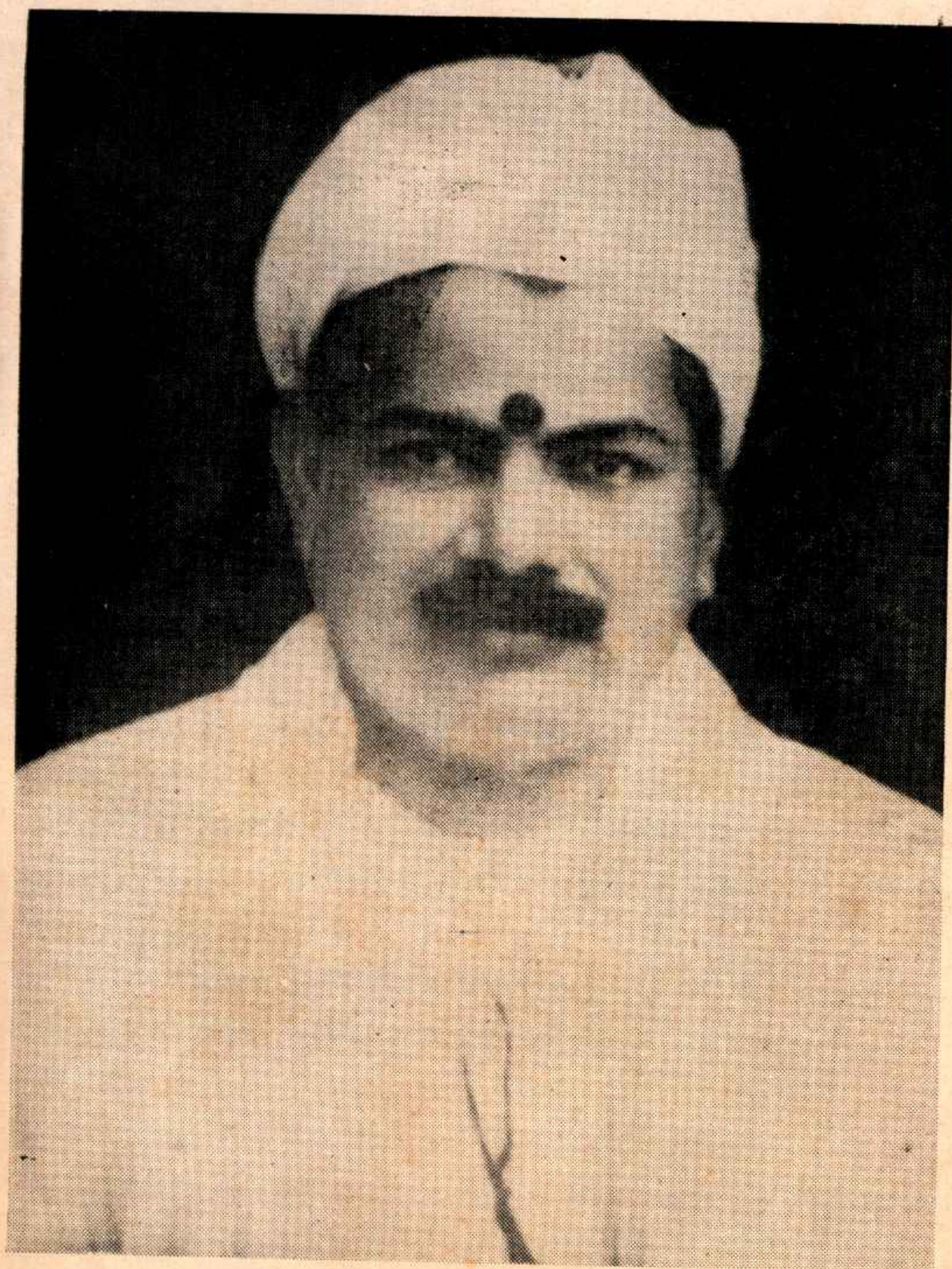
प्रथम संस्करण

मूल्य : २०.००

प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

ग्रन्थ–प्राप्ति :
राजस्थान वैदिकतत्त्व शोधसंस्थान,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८

मुद्रक :
श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



वेदवाचस्पति पं० मोतीलालजी शास्त्री

प्रकाश

राजस

केसर

जयपु

©

ग्र

र

प्रकाशकीय

गीता के आचार्य-काण्ड के आधार पर स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री जी ने कृष्ण तत्त्व विषयक जो नौ पुस्तिकाएँ लिखी है, उसी क्रम में 'ईश्वर कृष्ण-रहस्य' का प्रकाशन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता है। इससे पूर्व 'परमेष्ठीकृष्ण, चाक्षुषकृष्ण, ज्योतिकृष्ण, प्रतिष्ठाकृष्ण और सत्यकृष्ण-रहस्य' पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किए जा चुके हैं।

ईश्वरकृष्ण-रहस्य में शास्त्री जी ने ईश्वर के तात्त्विक-स्वरूप पर विस्तृत चर्चा की है। इसी प्रसंग में सप्तलोक-विज्ञान, रोदसी-क्रन्दसी-संयती-विज्ञान, षट्संस्थ प्रजापति विज्ञान, पञ्चपुण्डीर विज्ञान, पञ्चचिति विज्ञान, सप्तद्वीप एवं सप्तसमुद्र आदि रहस्यों का भी विस्तार के साथ विवेचन किया है।

डॉ० मदनगोपाल शर्म्मा ने ग्रन्थ का भाषा-सम्पादन एवं शुद्ध पाठ-निर्धारण कर अपनी देख-रेख में इसके प्रकाशन के दायित्व का निष्ठा एवं मनोयोगपूर्वक निर्वाह किया है। उनका योगदान श्लाघनीय है।

प्रो० मदनमोहन शर्म्मा ने प्रूफसंशोधन में सहायता प्रदान की है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

स्वर्गीय शास्त्री जी के पौत्र श्री प्रद्युम्नकुमार ने सन्दर्भों के उद्धरण देने का दुरूह और अथक परिश्रम कर इसके सुरुचिपूर्ण मुद्रण का स्तुत्य प्रयास किया है।

श्री हीरालाल गहलोत सन्दर्भ एवं प्रूफसंशोधन में सहायक रहे हैं।

प्रस्तुत कृति निष्ठावान् पाठकों के लिए कृष्णतत्त्व के रहस्यों को समझने में सहायक हो सकी तो इसके प्रकाशन का परिश्रम सफल सिद्ध होगा।

—कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

नवरात्र-स्थापन
वि० सं० २०४७

प्रकाशक

राजस्था

केसरगढ़

जयपुर

©

ग्रन

रा

'प्र

ज

ईश्वरकृष्ण-रहस्य

प्रतिष्ठा, ज्योति एवं यज्ञ इन तीनों कृष्णों का स्वरूप बतला दिया गया। अब क्रम-प्राप्त ईश्वर कृष्ण का स्वरूप बतलाना चाहिए। शिव! शिव! कैसी अनधिकारचार चर्चा है। भला, हम क्षुद्रजीव उस ईश्वर का स्वरूप क्यों कर बतला सकते हैं? **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**[1]—**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्**[2]—**नेति नेति हो वाच**—इस प्रकार अनन्त श्रुतियाँ जिसकी अविज्ञेयता का घण्टाघोष कर रही हैं—उसका स्वरूप बतलाने का साहस करना क्या अनधिकार चेष्टा नहीं है? हृत्-तन्त्री बोल रही है—नहीं है-नहीं है-नहीं है। सारा विश्व पुकार रहा है—नहीं है-नहीं है-नहीं है। तो क्या पूर्व की श्रुतियाँ मिथ्या हैं? नहीं, हमारा ज्ञान अज्ञान से आवृत हो रहा है। यदि जरा विचार कर लिया जाता तो ऐसे-ऐसे क्षुद्र विचारों का अवसर ही नहीं मिलता। स्मरण कीजिए 'सत्यकृष्ण-स्वरूप' का। हमने ब्रह्म के प्रविविक्त-सृष्ट-प्रविष्ट ये तीन स्वरूप बतलाए हैं। तीनों में से पूर्वोक्त श्रुतियाँ 'प्रविविक्त ब्रह्म' की अविज्ञेयता बतला रही हैं, न कि सृष्ट-प्रविष्ट की। प्रविविक्त परात्परब्रह्म वास्तव में अविज्ञेय है, वाङ्मनसातीत है, शास्त्रानधिकृत है। जितना 'प्रविविक्त' अविज्ञेय है-प्रविष्ट-सृष्ट उतना ही विज्ञेय है। जहाँ अभियुक्त प्रविविक्त की अज्ञेयता बतलाते हुए—

"अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो।
एतद्व्यावृत्त्याश्चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि"॥
"स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः"।

यह कहते हैं। वे ही विश्वेश्वर प्रविष्ट ब्रह्म की विज्ञेयता के लिए यह कहते हैं—

"वदत्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः"।

---

१ तैत्ति०उप० २।४।१ एवं २।६।१। २ केन उप० २।३।

हम ईश्वर का स्वरूप बतला सकते हैं, परमेश्वर का नहीं। परमेश्वर अविज्ञेय है–न कि ईश्वर, अतएव हम अवश्य ही इसका स्वरूप बतलाएँगे। ईश्वर क्या है? ईश्वर किसका नाम है? इसका एक मात्र उत्तर है–प्रजापति। प्रजापति अनेक हैं–जैसा कि आगे के प्रकरणों में बतलाया जाएगा। उनमें से एक प्रजापति-विशेष को ही हम ईश्वर कहेंगे। निरुपाख्य, अनिरुक्त, निरुक्त–तीन प्रकार के कृष्णों का ज्योतिकृष्ण में वर्णन आया है। इन तीनों कृष्णों में से अनुपाख्य कृष्ण को तो हम 'ईश्वर' कह नहीं सकते, क्यों कि अनुपाख्य कृष्ण तो सर्वधर्म-शून्य है–विश्वातीत है–व्यापक है–शुद्ध सत्ता मात्र है। विश्वानुदयाक्रान्त सत्तास्वरूप है एवं ईश्वर सर्वधर्म्मोपपन्न है–विश्वान्तर्गत है–महामाया से परिछिन्न है–कार्यसत्ताक्रान्त है। ईश्वर जगदीश्वर कहलाता है। वह इस विश्व का अध्यक्ष है। **योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्**[1] से उसे चराचर का स्वामी बतलाया जाता है। विश्व उस विश्वात्मा का शरीर है। भला, ऐसी अवस्था में हम अनुपाख्य कृष्ण को 'ईश्वर' क्यों कर कह सकते हैं? तीसरा है–निरुक्त कृष्ण। निरुक्त कृष्ण भी हम उसे नहीं कह सकते। निरुक्त कृष्ण काले रंग का नाम है, भूतज्योति का नाम है। भूतज्योति सूर्य्य से उत्पन्न होती है। वह तो सूर्य्य, परमेष्ठी, चन्द्रमा, पृथिवी इन सबका जनक है। वह तो भूतज्योति का जनक है, न कि भूतज्योतिस्वरूप है, अतएव निरुक्त कृष्ण को भी ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। उस ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान ज्योति से होता है, न कि भूतज्योति से। भला, जो भूतज्योति के अभाव में दिखलायी पड़ता है, वह भूतज्योतिस्वरूप निरुक्त क्यों कर हो सकता है? इस प्रकार न निरुपाख्य कृष्ण ईश्वर हो सकता है–न निरुक्त कृष्ण ईश्वर हो सकता है। बाकी बचता है–अनिरुक्त कृष्ण। बस, इसी अनिरुक्त कृष्ण को ही हम ईश्वर कहेंगे—

"अथेश्वर कृष्णोऽव्याख्यातव्यः। प्रजापति विशेषः ईश्वरः। स च भूतज्योतिर्विषयतया प्रत्यक्षं न भातीत्यनिरुक्तः कृष्ण इति वक्ष्यामः"

प्रजापति के लिए वेद में बार-बार **संवत्सरः प्रजापतिः, संवत्सरः प्रजापतिः**[2] कहा जाता है। वास्तव में संवत्सर का नाम ही प्रजापति है।

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२६।७ २ ऐ०ब्रा० १।१, ता०ब्रा० १६।४।१२।

यह संवत्सरात्मा ही प्रजापति कहलाता है । एक संवत्सर की वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर ये छह ऋतुएँ होती हैं । संवत्सर इन छह ऋतुओं के कारण 'षट् संस्थ' हो जाता है, अतएव प्रजापति के लिए हम **षट् संस्थो वै प्रजापतिः** यह कह सकते हैं । उन छहों संस्थाओं के आत्मा, गुण, शरीर, द्रविण, उपग्रह, कात्स्न्र्य ये छह नाम हैं । इन छहों में ही प्रजापति का व्यवहार होता है । आत्मा भी प्रजापति कहलाता है । गुणविशिष्ट आत्मा भी प्रजापति कहलाता है । शरीरविशिष्ट आत्मा भी प्रजापति कहलाता है । द्रविणविशिष्ट आत्मा पर भी 'प्रजापति' शब्द व्यवहृत होता है । उपग्रहविशिष्ट को भी प्रजापति कहते हैं—कात्स्न्र्यविशिष्ट को भी प्रजापति कहते हैं । इस प्रकार छहों संस्थाएँ पूर्व-पूर्व को साथ लिए हुए 'प्रजापति' शब्द से व्यवहृत होती हैं । चूंकि छहों संस्थाएँ प्रजापति कहलाने लगती हैं, अतएव हम छहों को निम्नलिखित नामों से व्यवहृत कर सकते हैं—

षट् संस्थो वै प्रजापतिः	१. आत्मसंस्थः प्रजापतिः	१. (आत्मा)
	२. गुणसंस्थः प्रजापतिः	२. (गुण)
	३. शरीरसंस्थः प्रजापतिः	३. (शरीर)
	४. द्रविणसंस्थः प्रजापतिः	४. (द्रविण)
	५. उपग्रहसंस्थः प्रजापतिः	५. (उपग्रह)
	६. कात्स्न्र्यसंस्थः प्रजापतिः	६. (कात्स्न्र्य)

वेद में इन छहों का भिन्न-भिन्न रूप से भी वर्णन आता है—समष्टिरूप से भी आता है। परन्तु आता है—इन छहों संस्थाओं का ही । छहों संस्थाओं के अलावा प्रजापति शब्द अन्यत्र कहीं भी व्यवहृत नहीं होता है । सारी श्रुतियों में प्रजापति शब्द इन छहों संस्थाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता । इन छहों का हम सूक्ष्मरूपेण थोड़ा-थोड़ा स्वरूप बतलाएँगे ।

षट्संस्थ प्रजापति में सबसे पहला आत्मसंस्थ प्रजापति है । अव्यय, अक्षर, क्षर, इन तीनों की समष्टि का नाम **"आत्मा"** है । आत्म शब्द का कई तरह से निर्वचन किया जाता है । आत्मा का निर्वचन करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

**"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चत्ति विषयानिह ।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्तितः ।।"**

यह आत्मा जागृत अवस्था के सारे पदार्थों का वासनारूप से ग्रहण करता है, इसलिए भी **वासनास्वीकारादादत्ते**–इस व्युत्पत्ति से आत्मा कहते हैं। यह आत्मा बाह्य विषय भोगों का भोग करता है, अतएव **बाह्यविषयभोगानत्ति** –इस व्युत्पत्ति से भी इसे 'आत्मा' कहा जाता है। अपिच–यह आत्मा सर्वत्र व्याप्त रहता है, अप्रतिहतगति है, अतः **अतति सातत्येन सर्वत्र संगच्छति**–इस व्युत्पत्ति से भी इसे आत्मा कहते हैं। इस प्रकार शास्त्रकारों ने आत्मा का निर्वचन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है एवं उन सारे निर्वचनों में परस्पर कोई भी विरोध नहीं है। हमने बतलाया है कि इस आत्मा में अव्यय, अक्षर, क्षर, ये तीन धातु रहते हैं। इसीलिए आत्मा को **त्रैधातव्य** भी कहा जाता है। सर्वबलविशिष्ट रस का नाम परात्पर है–जो कि असीम है–अनवच्छिन्न है–विश्वातीत है–यही हमारा प्रविविक्त ब्रह्म है। यह असीम है, अतएव वाङ्मनसातीत है, अतएव शास्त्रानधिकृत है, अतएव अनुपाख्य है। इस परात्पर के विषय में जिसे कि 'परमेश्वर' कहेंगे–हमें कुछ नहीं कहना। यही असीम परात्पर यत्किंचित्-अवच्छेदेन-महामाया नाम के बलादेय से ससीम हो जाता है। बस, महामहामायावच्छिन्न जो रस है–अमृत है–उसी का नाम अव्यय है। मायाबल के रहने पर भी उस रस का कुछ नहीं बिगड़ता अतएव उसे 'अव्यय' कहा जाता है। जो वस्तु व्यापक होती है–असीम होती है–उसमें सेंटर नहीं होता। परन्तु ससीम वस्तु में केन्द्र हो जाता है, अतएव महामायावच्छिन्न इस अव्यय में भी एक नये केन्द्र बल का प्रादुर्भाव होता है। बस, इसी केन्द्रीय रस का नाम 'मन' रखा जाता है। पूर्व के कृष्ण रहस्यों में हमने **श्वोवसीयस-अनिन्द्रिय-इन्द्रिय** भेदेन मन तीन प्रकार के बतलाए हैं–उन तीनों में से सबसे पहला जो 'श्वोवसीयस' मन है वही 'अव्ययमन' कहलाता है। अव्यय के केन्द्र में रहने वाला जो रस है वही 'श्वोवसीयसमन' कहलाता है। इस मन में सबसे पहले एक इच्छाबल उत्पन्न होता है। जो वस्तु व्यापक होती है उसमें इच्छा नहीं होती। आज यह रस परिच्छिन्न हो गया है अतएव परिच्छेद को तोड़ने के लिए वापस अपने उसी व्यापक स्वरूप में आने के लिए इसमें 'इच्छा' **बल का प्रादुर्भाव होता है।** अव्यय मन का जो पहला रेत है, वह यही काम **है–जिसे कि 'इच्छा' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, अतएव श्रुति कहती है—**

"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" ।[1]

बस, इस इच्छाबल से अव्यय मन द्वारा दो प्रकार के बल पैदा होते हैं। एक बल का नाम है–सृष्टिसाक्षी एवं दूसरे बल का नाम है–मुक्तिसाक्षी। सृष्टिसाक्षी बल–प्राण, वाक्-नाम से व्यवहृत होता है; मुक्तिसाक्षी बल–आनन्द, विज्ञान नाम से व्यवहृत होता है। इस प्रकार वह अव्यय मन अपने में से आनन्द-विज्ञान-प्राण-वाक् को उत्पन्न कर उनको अपने ऊपर सवार कर लेता है, उनका चुनाव कर लेता है। इसी चुनाव को वैदिक परिभाषा में 'चिति' कहते हैं। **तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्–**[2] के अनुसार अव्यय मन चारों को उत्पन्न कर उनके भीतर केन्द्र में प्रविष्ट हो जाता है। चूँकि इस अव्यय पर इन चारों का चुनाव हो जाता है अतएव अव्यय को 'चिदात्मा' भी कहा जाता है। बस, वह जो निष्कल अव्यय था, वही इच्छा बल के कारण आनन्द-विज्ञानादि पाँच कलाओं में परिणत होता हुआ 'सकल' हो जाता है। आनन्द-विज्ञान एक तरफ हैं–प्राण-वाक् दूसरी तरफ हैं एवं मन दोनों के बीच में है। यही मन, विज्ञान-आनन्द की ओर जाता हुआ बन्धन की मुक्ति का कारण बनता है–यही मन, प्राण-वाक् की ओर जा कर बन्धन का कारण बनता है, अतएव यह कहा जाता है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" ।[3]

इस पञ्चकल अव्यय की जो आनन्द-विज्ञान कला है–वह ज्ञानस्वरूप है एवं प्राण-वाक् कर्म्मस्वरूप है। मन दोनों में है। इस प्रकार अव्यय ज्ञान-कर्म्मोभयात्मक है। कर्म्म मृत्युस्वरूप है–विनाशी है एवं ज्ञान अमृतस्वरूप है–नित्य है, अतएव यह कहा जाता है—

"अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" ।[4]

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२६।४। २ तै०उप० २।६।१।
३ मैत्रा० उप० ६।३४। ४ शत० ब्रा० १०।१।३।२।

इस पञ्चकल अव्यय पुरुष की अक्षर और क्षर दोनों परा-अपरा प्रकृति हैं। अव्यय का जो प्राण है उससे अक्षर सम्बन्ध रहता है–अव्यय का वाक् से क्षर सम्बन्ध। जिस प्रकार अव्यय की पाँच कलाएँ है–उसी प्रकार अक्षर की भी पाँच कलाएँ हैं। वे पाँचों कलाएँ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम इन नामों से प्रसिद्ध है। इनमें ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-ये तीन तो हृदय में, सेण्टर में रहते हैं। इसीलिए केन्द्र का नाम 'हृ-द-य' रखा जाता है। हमारे शरीर में एक शक्ति ऐसी है जो बाहर से अन्न ला-ला कर शरीर में डाला करती है–इसे ही **अशनाया** (भूख) कहा जाता है। जिस समय हम भूखे हो जाते हैं तो एक प्रकार की खाऊँ-खाऊँ की इच्छा होने लगती है। यह इच्छा तब तक शान्त नहीं होती जब तक कि उसे अन्न न मिल जाए। बस, इस बुभुक्षा शक्ति का अधिष्ठाता जो प्राण (हृद्य प्राण) है–उसी का नाम विष्णु है। परन्तु हम देखते हैं कि सायंकाल खूब पेट भर कर सोए थे, प्रातःकाल सब गायब। इससे मालूम होता है कि कोई प्राण ऐसा भी है–जो आई हुई वस्तु को बाहर भी फेंका करता है। इसीलिए तो हमें भूख लगती है। इस फेंकने वाले प्राण का नाम 'इन्द्र' है। आदान के अधिष्ठाता विष्णु हैं–विसर्ग अधिष्ठाता इन्द्र हैं। इस आदान-विसर्ग में सदा स्पर्द्धा चला करती है। दोनों प्राण शरीर में परस्पर लड़ा करते हैं। दोनों में से एक भी नहीं हारता। दोनों के अधिष्ठाता इन्द्र और विष्णु हैं, अतएव श्रुति कहती है––

"उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्" ॥[1]

यह आदान-विसर्गात्मक क्रिया जिस प्राण के आधार पर होती है–उसी का नाम 'ब्रह्मा' है। प्रतिष्ठा का–आलम्बन का–नाम ही ब्रह्मा है। इसीलिए **ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा**[2] यह कहा जाता है। इस प्रकार एक ही प्राण अवस्था विशेष के कारण प्रतिष्ठा-विक्षेपण-आदान इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। कुछ रस प्रतिष्ठित रहता है–इसका नाम ब्रह्मा है, जो रस

---

१ ऋग्वेद मं० ६।६६।२। २ शत०ब्रा० ६।१।१।८।

अशनाया के कारण बाहर से आता है–वह विष्णु है एवं जो रस बाहर जाते हुए प्राण के साथ बाहर निकल जाता है वह इन्द्र है। एक ही रस बलावस्था से ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र तीन स्वरूप धारण कर लेता है, अतएव **एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः** यह कहा जाता है । विष्णु जिसे अशनाया द्वारा लाते हैं– उसका नाम है–सोम एवं इन्द्र विक्षेपण शक्ति द्वारा जिसे बाहर फेंकते हैं उसका नाम अग्नि है । आग्नेय प्राण ही तो रोमावलियों में हो कर खर्च होता रहता है । बस, इन पाँचों अक्षरों से ही सारे विश्व का निर्माण होता है । विष्णु हरण अर्थात् बाहर से अन्न-आहरण करते हैं, अतएव विज्ञान को समझाने के लिए दयालु महर्षियों ने इसका नाम 'हृ' रख दिया है । इन्द्र आए हुए अन्न को विशकलित करके खण्ड-खण्ड करके बाहर फेंकता है अतएव 'दो अवखण्डने' की ओर लक्ष्य रख कर उसका नाम 'द' रख दिया है । दोनों का नियमन ब्रह्मप्राण-प्रतिष्ठाप्राण करता है अतएव **यमयति नियच्छति** को लक्ष्य में रख कर ब्रह्मा का नाम 'य' रख दिया है । बस, **हरति अर्थात्–अन्नमाहरति धृति-यमयति**-इस व्युत्पत्ति से केन्द्र का नाम 'हृ-द-य' रखा है । हृदय यह नाम ही ब्रह्माविष्णुइन्द्र के हृद्य होने के भाव को प्रकट करता है । बाकी बचे अग्नि-सोम । अग्नि-सोम बाहर की वस्तु हैं, विश्व की वस्तु हैं । ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र के आधार पर अग्नि-सोमस्वरूप विश्व नाचा करता है । अग्निसोम संसार है, तीनों इनकी केन्द्र शक्ति हैं । विश्व निर्माणाधिष्ठाता हैं पाँचों, परन्तु तीन चूंकि हृदय में रहते हैं अतएव उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । प्रत्यक्ष अग्नि-सोम का ही होता है, अतएव **अग्नीषोमात्मकं जगत्**[1] यह कहा जाता है । बस, अव्यया-लम्बन पर रहने वाला यही पञ्चकल अक्षर सारी सृष्टि का निर्माण किया करता है । यह अक्षर इस क्षर सृष्टि का निमित्त कारण है । यही अव्यय की पराप्रकृति है । इसके बाद अव्यय का जो वाक् भाग है–उससे क्षर–सृष्टि उत्पन्न होती है । यह क्षर-'आत्म-विकार-यज्ञ' भेद से तीन प्रकार का है, जैसा कि हम आगे बतलाने वाले हैं । अक्षर से सश्लिष्ट अतएव आत्मस्वरूप जो क्षर है, वह आत्मक्षर कहलाता है । अक्षर की जो कलाएँ हैं—वे ही पाँचों कलाएँ इसकी भी हैं । इससे ही प्राणादि विकार-क्षर उत्पन्न होते हैं । चूंकि

---

१ रामपूर्व० उप० ३।६।

यह आत्म-क्षर अक्षर से संश्लिष्ट रहता है अतएव अक्षर के निमित्त कारण होने पर भी इस अविनाभाव को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" ॥[1]

आत्मा को अव्यय-अक्षर-क्षर स्वरूप बतलाया है। इस क्षर से आत्म-क्षर का ही अर्थ समझना चाहिए। विकार यज्ञक्षर तो विश्वस्वरूप है। आत्म-क्षर ही आत्मा में आता है। इस प्रकार वह एक ही रस पञ्चकलाव्यय पञ्चकलाक्षर-पञ्चकलक्षर से पन्द्रह कला युक्त हो जाता है एवं वह जो परात्पर बचा हुआ है, जो कि सर्वव्यापी है, यह भी इसमें रहता ही है। वह तो व्यापक है, उसका अभाव कैसे हो सकता है ? बस, यही सोलहवीं कला है। इस प्रकार आत्मा षोडशकल हो जाता है। संसार के यच्चयावत् पदार्थ आत्ममय है। विना आत्मा के कोई नहीं रह सकता, इसलिए **आत्मैवेदं सर्वम्**[2] यह कहा जाता है एवं यह आत्मा अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों की समष्टि है इसलिए **त्रिवृद् वा इदं सर्वम्** यह कहा जाता है। अपिच—इसमें एक चौथा परात्पर और रहता है इसलिए **चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**[3] यह भी कहा जाता है। अपिच—कलाभेदेन यह सोलह कलायुक्त है अतएव **षोडशकलं वा इदं सर्वम्**[4] यह कहा जाता है। श्रुति में ऐसे-ऐसे भिन्न वाक्यों को देख कर विरोध न समझ लिया जाए, अतएव प्रसङ्गागत इन अनुगम-श्रुतियों का उल्लेख कर दिया गया है। आत्मा षोडशकल है इसीलिए तो जीवात्मा के अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है—

**"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" ॥[5]**

---

१ मुण्डक उप० २।१।१। २ छा०उप० ७।२५।२।
३ कौ०ब्रा० २।१। ४ शत०ब्रा० १३।२।२।१३।
५ मुण्डक उप० ३।२।७।

बस, यही आत्मा का स्वरूप है। यही पहला आत्मसंस्थ प्रजापति है। आनन्द-विज्ञान-प्राणादि पन्द्रह कलाएँ इस निष्कल अव्यय की प्रजा हैं। इन पन्द्रह कलाओं का वही निष्कल अव्यय अधिष्ठाता है, अतएव इस कला-प्रजा की अपेक्षा से हम आत्मा को प्रजापति कह सकते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" ॥[1]

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" ॥[2]

यही आत्मसंस्थ प्रजापति का स्वरूप है।

॥ इति आत्मसंस्थ प्रजापति विवेचनम् ॥

आत्मसंस्थ के अनन्तर है—गुणसंस्थ प्रजापति। प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ ये तीन आत्मा के गुण कहलाते हैं। वह अव्ययात्मा-सर्वज्ञपुरुष-ज्ञानमूर्ति ईश्वर सबसे पहले प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ इन तीन गुणों को उत्पन्न करता है, अतएव श्रुति कहती है—

"यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" ॥[3]

तस्मादेतद् ब्रह्म में जो ब्रह्म है उसका नाम तो प्रतिष्ठा है। व्यापक-सत्ता का नाम सत्ता है, विद्यमानसत्ता का नाम प्रतिष्ठा है।[4] ब्रह्म के अनन्तर है-नामरूप। इन्हीं को ज्योति कहते हैं। ज्योति कहते हैं—प्रकाशित पदार्थ को, भासमान वस्तु को। संसार में नाम और रूप ये दो ही तो भासमान पदार्थ हैं

---

१ गीता १५।१६। २ गीता १५।१७। ३ मुण्डक उप० १।१।९।
४ इसका विस्तृत विवेचन स्व० शास्त्रीजी कृत 'प्रतिष्ठाकृष्ण-रहस्य' में किया गया है।

नाम-रूप के अलावा और विश्व में दिखता ही क्या है ? यदि नाम-रूप न रहें तो संसार उसी क्षण गायब हो जाए, अतएव हम नाम-रूप को ज्योति कहने के लिए तय्यार हैं।[१] इसके बाद है—अन्न। अन्न को ही यज्ञ कहते हैं। अग्नि में सोम की आहुति डालने का नाम ही यज्ञ है। हमारे शरीर में वैश्वानराग्नि धधक रहा है। इसमें जब अन्न की आहुति डाली जाती है तो इससे आत्म-यज्ञ होता है। हम जो अन्न खाते हैं वह अन्न अर्क रस में परिणत होता है। बल-प्रद-उत्साहवर्धक-स्फूर्तिस्वरूप जो रस है—शरीर-प्राण है—उसे ही 'ऊर्क्' कहते हैं। इसके बाद यह ऊर्क् प्राण-रूप में परिणत हो कर रोमावलियों द्वारा शरीर के बाहर निकल जाता है। उस क्षति को पूरी करने के लिए फिर अन्न आहुत होता है। अन्न फिर ऊर्क् बनता है। ऊर्क् फिर प्राण बन जाता है। इस प्रकार अन्न-ऊर्क्-प्राण इन तीनों का चक्र अनवरत चलता रहता है। यही आत्म-यज्ञ कहलाता है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"अन्नोर्क् प्राणानामन्योन्य परिग्रहो यज्ञः"।

यह तो हुआ अध्यात्म यज्ञ। अब चलिए अधिदैवत की ओर। अधि-दैवत यज्ञ के अधिष्ठाता भगवान् सूर्य्य प्रजापति हैं। सूर्य्य अग्निमय है। इसमें पारमेष्ठ्य ब्राह्मणस्पत्य सोम अनवरत आहुत होता रहता है। बस, इसी आहुति से सूर्य्य प्रज्वलित हो रहा है। इसीलिए तो **सूर्य्यो ह वाऽग्निहोत्रम्**[२] यह कहा जाता है। सूर्य्य के इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से संसार के यच्चया-वत् प्राणिमात्र के यज्ञ की सत्ता रहती है। इस यज्ञ का संचालक अन्न है अर्थात्—सोम है। यदि सोम न हो, अन्न न हो, तो अध्यात्म यज्ञ भी नहीं हो सकता, अधिदैवत यज्ञ भी नहीं हो सकता, अतएव हम अन्न को अवश्य ही 'यज्ञ' कहने के लिए तय्यार हैं। इसी यज्ञ के आधार पर संसार की स्थिति रहती है, अतएव भगवान कहते हैं—

---

१ इसका विवेचन स्व० शास्त्रीजी कृत ज्योतिकृष्ण-रहस्य में किया गया है।
२ शत०ब्रा० २।३।१।१।

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्" ।।[1]

इस यज्ञ का विस्तृत विवेचन पूर्व के 'यज्ञकृष्ण रहस्य' में कर दिया गया है । बस, प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ ये तीन ही आत्मा के गुण हैं । इनके बिना आत्मा विश्वस्वरूप में कदापि परिणत नहीं हो सकता । आत्मा जब भी विश्व-स्वरूप में परिणत होगा, प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ इन तीन से ही होगा । ये तीनों आत्मा के गुण हैं । आत्मसंस्थ प्रजापति जब इन तीनों गुणों से युक्त हो जाता है तो 'गुणसंस्थप्रजापति' कहलाने लगता है । बस, यही दूसरा प्रजापति है ।

।। इति गुणसंस्थ प्रजापति विवेचनम् ।।

तीसरा है शरीरसंस्थ प्रजापति । बीज-दैवत-भूत इन तीनों की समष्टि-युक्त आत्मसंस्थ प्रजापति को शरीरसंस्थ प्रजापति कहते हैं । आत्मा तीन ही शरीरों से शारीरी कहलाता है । देही की ये तीन ही देह हैं । देही को परि-च्छिन्न करने वाले यही तीन हैं । इन तीनों में सबसे पहला शरीर है—बीज । निर्लेप-निरावरण-निष्काम-निधर्म्मक-निरञ्जन आत्मा को सलेप सावरण-सकाम-सर्वधर्मोपपन्न-साञ्जन बनाने वाला यही बीज शरीर है । इसी को कारण-शरीर भी कहते हैं । आत्मा को बन्धन में डालने में प्रधान कारण यही (शुक्र-काम-कर्म्म) हैं अतएव इसे 'बीज' (आत्मबन्धन का कारण) कहा जाता है । आत्मबन्धन का बीज दार्शनिक लोग 'अविद्या' को बतलाया करते हैं । उनका कहना है कि अविद्या अर्थात्—अज्ञान ही आत्मा के बन्धन का एक-मात्र कारण है । अविद्या ही आत्मा को पुनः-पुनः जन्म लेने के लिए बाध्य करती है । वास्तव में यही बात है । अविद्या ही आत्मबन्धन का बीज है । परन्तु प्रश्न इसमें एकमात्र बचता है कि अविद्या का स्वरूप क्या है ? खाली नाम से तो अविद्या का स्वरूप मालूम नहीं होता ।

अज्ञान-अविद्या-शब्दमात्र से सन्तोष नहीं होता । बस, अविद्या का क्या स्वरूप है ? बीज कहते किसे हैं ? यह जिज्ञासा बनी ही रहती है ।

---

१ गीता ३।१० ।

इसी जिज्ञासा के उत्तर के लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखना पड़ेगा तथापि सूक्ष्मरूप से हम इसका थोड़ा सा स्वरूप बतला देते हैं। तीन ही बन्धन के मूल कारण हैं। हमने अव्यय को आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् स्वरूप बतलाया है उसी अव्यय के हम प्रतिबिम्ब हैं। सूर्य्य-रश्मियाँ पानी में आक्रान्त हो कर जैसे अनन्त प्रतिबिम्बों में परिणत हो जाती हैं एवमेव उसी ज्ञानघन-अव्यय की ज्ञानरश्मियों के 'महान्' पर प्रतिबिम्बित हो जाने से अनन्त जीव आविर्भूत हो जाते हैं। इससे कहना हमें यही है कि जीव उसी अव्यय का अंश है, अतएव मानना पड़ता है कि जो वस्तुएँ अव्ययेश्वर में हैं वे ही वस्तुएँ इस जीव में भी हैं। इसीलिए तो यह कहा जाता है—

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥[1]

वास्तव में बात सच है। एक लोटा लीजिए और उसमें नारङ्गी-अनार-केवड़ा-गुलाब-नीबू-अंगूर-खसखस इन सब का रस डालिए। डाल कर सब रसों को खूब मिला लीजिए। उस लोटे भरे शर्बत में से एक बूंद बाहर डालिए। आपको मानना पड़ेगा कि जितने रस उस लोटे भरे पानी में हैं, जितनी वस्तुएँ उसमें हैं, उतनी ही इस एक बूंद में भी हैं। हाँ मात्रा में अवश्य ही तारतम्य है। यह अल्प है, वह महान् है। यह प्यास नहीं बुझा सकता, वह बुझा सकता है। एवमेव उस अव्यय के अंशभूतजीव में भी वे सारे पदार्थ हैं जो कि अव्यय में हैं। फर्क इतना है कि जीव अल्पज्ञ है, जब कि ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव अनाप्त-काम है, ईश्वर आप्तकाम है। ईश्वर सत्य-संकल्प है–सत्यकाम है–अनन्त कल्याणगुणाकर है, जीव का सकल्प और काम मिथ्या भी हो जाता है। यह अनन्त कल्याण-गुणाकर है। मात्रा-मात्रा में अन्तर है, बाकी सब में अभेद है। इसीलिए तो योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्–कहा जाता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति।[2]

---

१ ईश०उप०मङ्गल पाठ। २ गीता १५/७।

अतएव— "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ॥[1]

यह कहा जाता है। ईश्वर भी अर्थात् अव्यय भी सच्चिदानन्द है, जीव भी सच्चिदानन्द है। सर्वत्र सच्चिदानन्द का ही राज्य है। इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि अव्ययवत् जीव भी आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् षोडशकलोपेत है। इनमें अक्षर और क्षर के विषय में हमें कुछ नहीं कहना। कहना है अव्यय के विषय में। अव्यय की आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्-ये पाँच कलाएँ हैं। पाँचों में 'आनन्द-विज्ञान' ये दोनों तो ज्ञान हैं। मन, इच्छा का अधिष्ठाता है। प्राण-वाक् कर्म्म है। इस प्रकार अव्यय-पुरुष ज्ञान-इच्छा-कर्म्म-इन तीन सीगों (विभागों) में बँटा हुआ है। इन तीनों में ज्ञान से विषयाननुस्थपित जो संस्कार होता है उसे विद्या कहते हैं।

ज्ञान द्वारा विषयाहित जो संस्कार है—उसी का नाम विद्या है। हमें जब घट-पट का ज्ञान होता है तो उसका फोटो हमारे अन्तःकरण के फलक पर उतर आता है। हम जब बम्बई के बाजारों में भ्रमण करने निकलते हैं तो वहाँ के सुन्दर दृश्यों का, बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं का, ट्राम्बेगाड़ियों का, विद्युत्-छटा का, मोटरों की भीड़ का, सिपाहियों के सन्निवेशक्रम का, हमारे अन्तःकरण में फोटो उतर जाता है। सारे दृश्य, ज्ञान द्वारा (जानने से) ज्यों-के-त्यों अंकित हो जाते हैं। जब हम बम्बई से वापस अपने देश में लौट आते हैं, तो वे सारे दृश्य आँखों के सामने नाचा करते हैं। बम्बई के ये दृश्य जो बाद में स्मृति में कल्पना से उठते हैं वे प्रत्यक्ष बम्बई के नहीं हैं किन्तु अन्तःकरण में निर्मित अंकित जो बम्बई है, उसके हैं। ये सारे दृश्य मेरे अन्तःकरण की वस्तु हैं। उस बम्बई से अब मेरे अन्तर्जगत् की बम्बई का कोई सम्बन्ध नहीं है। चाहे वह बहिर्जगत् की बम्बई नष्ट हो जाए तथापि अन्तःकरण की बम्बई नष्ट नहीं हो सकती। चूँकि ज्ञान से वे सारे दृश्य मेरे अन्तःकरण में बस जाते हैं अतएव हम इस संस्कार को 'वासना' शब्द से व्यवहृत करते हैं। विषयावच्छिन्न ज्ञान का जो अनुभवाहित संस्कार है,

---

१ कठ०उप० २।१।१०।

जो कि बाहर के विषय के नष्ट हो जाने पर भी ज्यों का त्यों बना रहता है, वही 'वासना' संस्कार है। इसी वासना-वीर्य्य से हमारा आत्मा संसार-स्वरूप में प्रादुर्भूत होता है, बन्धन में पड़ कर जन्म लेता है; अतएव इस विद्यासंस्कार को–ज्ञानानुपाहित संस्कार को–वासना का 'शुक्र' कहने के लिए तय्यार हैं। शुक्र, वीर्य्य को कहते हैं। वीर्य्य से ही उत्पत्ति होती है। आत्मा को उत्पन्न करने वाला, बन्धन में डालने वाला, वीर्य्य ही वासना है अतएव हम इसे 'शुक्र' कहते हैं।

पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि अव्यय का जो ज्ञान-भाग है उससे शुक्र बनता है, अर्थात्–ज्ञानजन्य संस्कारानुभवाहित संस्कार ही आत्मा का शुक्र है। इसके बाद है–मन। मन इच्छा का जनक है। यह करूँ, वह करूँ, यहाँ जाऊँ, वहाँ जाऊँ, यह खाऊँ–वह खाऊँ; इस प्रकार की जो इच्छा-रश्मियाँ हैं–अर्क है–इनका उक्थ अर्थात्–प्रभव यही मन है। बस, इच्छानु-भवाहित जो संस्कार है उसी का नाम काम है। यह वासना अनेक जन्मों से सम्बन्ध रखती है तथा अनेक जन्मों से संचित हो–हो कर वासना का जीवात्मा पर आवर्त (आवरण) चढ़ जाता है। इस वासना को जाग्रत करने वाली यही इच्छा है। इच्छा ही वासना को जाग्रत करती है। हमें जब किसी की इच्छा होती है तो उसका भी अन्तःकरण में एक संस्कार होता है। बस, इस इच्छाहित संस्कार का नाम ही काम है। इच्छा ही बन्धन में डालती है। वास्तव में बन्धन में डालती है पूर्व जन्मों और इस जन्म में सञ्चित वासना। परन्तु वासना इच्छा से ही जाग्रत होती है। इच्छा ही वासना की जननी है अतएव हम इच्छा को ही बन्धन का प्रधान कारण कहने के लिए तय्यार हैं। कामना से आत्मा आसक्त हो जाता है, विषय से बँध जाता है। यही आसक्ति बन्धन में डालती है। यदि इच्छा नहीं है तो वासना को जाग्रत होने का मौका ही नहीं मिलता है। वासना ही तो आत्मा को उत्पन्न करने वाला शुक्र है। इच्छा-प्रतिबन्धात् जब उसी का द्वार रुक गया तो फिर बन्धन की क्या कथा है ? वास्तव में बन्धन में डालने वाली इच्छा है, काम है। कोई सिपाही यदि अपने स्वामी की आज्ञा से किसी निर्दोष प्राणी को मार डालता है तो उसका दण्ड स्वामी को भोगना पड़ता है, न कि सिपाही को। इच्छा स्वामी

की थी न कि सिपाही की। यद्यपि मारने का कर्म्म किया था सिपाही ने तथापि उसकी अपनी इच्छा नहीं थी। उसने निष्काम कर्म्म किया था अतएव वह सजा नहीं भोगता, बन्धन में नहीं पड़ता। बन्धन में पड़ता है इच्छा रखने वाला स्वामी। बस, इसीलिए भगवान् कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं—

"तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचरः।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः" ॥[1]

जो निष्काम कर्म्म करते हैं उसके लिए वेद भगवान् कहते हैं—

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" ॥[2]

इसी आधार पर भगवान् कहते हैं—

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि न करोति न लिप्यते"।

रात दिन अनवरत २४ घण्टे काम किए जाओ परन्तु आसक्ति मत रक्खो, कामना मत रक्खो, कभी बन्धन में नहीं पड़ोगे—यही गीता का सार है। सम्पूर्ण गीता में भगवान् ने निष्कामकर्म्म का उपदेश देते हुए उसके पालन के लिए धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य ये चार उपाय बतलाए हैं। यह हुआ काम का स्वरूप। अब चलिए कर्म्म की ओर। ज्ञान, मन अर्थात् काम के बाद है प्राणवाक्-स्वरूप कर्म्म। जैसे ज्ञानानुभवाहित-संस्कार को 'वासना' कहते हैं एवमेव कर्म्मानुभवाहित संस्कार को 'भावना' कहते हैं। भावनात्मक-संस्कार क्रिया से उत्पन्न होता है तथा वासनात्मक संस्कार ज्ञान से उत्पन्न होता है। हम जो काम करते हैं, भोजन बनाते हैं, मकान बनवाते हैं, पुस्तक लिखते हैं इत्यादि जो कर्म्म करते हैं, इनसे भी आत्मा में एक संस्कार होता है। इस संस्कार से भी आत्मा बन्धन में पड़ जाता है, बशर्ते कि सारे कर्म्म आसक्ति-पूर्वक किए जाते हों। सकाम कर्म्म, बन्धन में डालते हैं न कि निष्कामकर्म्म।

---

१ गीता ३।१९। २ ईश०उप० १।२।

कर्म्म शब्द का अर्थ है–चेष्टा। चेष्टा कायिक-वाचिक-मानसिक-भेदेन तीन प्रकार की होती है, अतएव भगवान् गौतम कहते हैं—

"प्रवृत्तिर्वाग् बुद्धि शरीरारम्भः"।

प्रवृत्ति कहते हैं चेष्टा-कर्म्म को। यह प्रवृत्ति–वाक्-बुद्धि-शरीर भेदेन तीन प्रकार की है। कायिक-वाचिक-मानसिक ये तीन प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं। चेष्टा, क्रिया का नाम है, व्यापार का नाम है। ज्ञान शुद्ध है, निष्क्रिय है, अतएव यहाँ बुद्धि शब्द से मन ही अभिप्रेत है, न कि ज्ञान। बुद्धि से ज्ञान न समझ लिया जाए अतएव न्याय-भाष्यकर्त्ता वात्स्यायन कहते हैं—

"मनो कुत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम् बुध्यते अनेनेति बुद्धिः"।[1]

इन तीनों में मानसिक चेष्टा का सम्बन्ध काम से है। कायिक और वाचिक दो चेष्टाएँ कर्म्म में रह जाती हैं। हम जो शब्द बोलते हैं उससे भी एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। शरीर से जो काम करते हैं उससे भी संस्कार पैदा होता है। बस, इसी से आत्मा बन्धन में फँसता है। शुक्र, काम और कर्म्म ये तीनों ही आत्मा के बन्धन के कारण हैं। तीनों ही अविद्या-स्वरूप हैं। इन तीनों की समष्टि को हम 'बीज' चिति कहते हैं। यही बीज आत्मा के बन्धन का प्रधानकारण है अतएव इस बीज को (शुक्र-काम-कर्म्म की समष्टि को) 'कारण शरीर' कहा जाता है।

बीज के बाद है देवता। अग्नि-सोम का नाम है देवता। अग्नि घन, तरल, विरल भेदेन अग्नि-वायु-आदित्य तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। सोम भास्वर-दिक् भेदेन दो प्रकार का है। इस प्रकार ये पाँचों देवता, जो कि प्राणस्वरूप हैं, उस बीजालम्बन पर आरूढ़ हो जाते हैं। बीज के उत्पन्न होते ही पाँचों का आत्मा से संसर्ग हो जाता है, अतएव कहा जाता है—

---

१ सूक्त सं० १७ न्याय भाष्य।

"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्यु इति"।[1]

इन पाँचों प्राणों की समष्टि को ही 'सूक्ष्म शरीर' कहते हैं। इसके अनन्तर भूतों का क्रम है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश ये पाँच भूत हैं। पाँचों भूत इन प्राणों पर आरूढ़ हो जाते हैं। प्राण के बिना भूत नहीं रह सकते। प्राण ही–शक्ति का आवेग ही–भूत का स्थूल आलम्बन है। बस, जहाँ प्राण आए कि पाँचों भूत प्राणों पर आरूढ़ हो जाते हैं। इस भूत-समष्टि को ही 'स्थूलशरीर' कहते हैं। सबसे ऊपर भूत-समष्टि है, उसके अन्दर प्राण-समष्टि है, उसके अन्दर बीज-समष्टि है, उसके अन्दर गुण-समष्टि है, उसके अन्दर षोडशकल आत्मा है। भूत-समष्टि का नाम 'स्थूलशरीर' है, प्राण-समष्टि का नाम 'सूक्ष्मशरीर' है तथा बीज-समष्टि का नाम 'कारणशरीर' है। इन तीनों में जो सूक्ष्मशरीर है वही मृत्यु के अनन्तर 'लिङ्गशरीर' कहलाने लगता है। आत्मा के उत्क्रान्त होने पर प्राण-देवता और भूत-सूक्ष्म साथ रहते हैं। इसीलिए तो यह कहा जाता है—

"तदन्तर प्रतिपत्तौरंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न निरूपणाभ्याम्"।

प्रकृत में बतलाना हमें यही है कि बीज-दैवत-भूत समष्टि ही इस आत्मा का शरीर है। इस शरीर-विशिष्ट आत्मा को 'शरीर-सस्थ प्रजापति' कहेंगे। यही तीसरा प्रजापति है।

।। इति शरीरसंस्थ प्रजापति विवेचनम् ।।३।।

चौथा है द्रविणसंस्थ प्रजापति। द्रविण कहते हैं वित्त को–सम्पत्ति को। यह तीन ही प्रकार की है–ब्रह्म-क्षत्र-विट्। ब्रह्म का अग्नि से सम्बन्ध है। अग्नि का छन्द 'गायत्री' है अतएव–गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्–यह

---

१ ऐत०उप० २।४।

कहा जाता है। क्षत्र का इन्द्र से सम्बन्ध है। इन्द्र के छन्द का नाम 'त्रिष्टुप्' है अतएव—त्रिष्टुभो वै राजन्यः[1]—यह कहा जाता है। विट्-विश्वेदेवों से सम्बन्ध रखता है। वह द्युलोकस्थ है। द्युलोक के छन्द का नाम 'जगती' है अतएव जगती-छन्दा वै वैश्यः[2] कहा जाता है। ब्रह्म-क्षत्र-विट् ये तीन अन्तरङ्ग वीर्य्य कहलाते हैं। इन तीनों सम्पत्तियों का शरीर के अन्तरङ्ग भाग से सम्बन्ध है। इन तीनों का विवेचन आगे के प्रकरण में किया जाएगा। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि अन्तरङ्ग-वीर्य्य-त्रययुक्त जो आत्मा है—वह द्रविणसंस्थ प्रजापति कहलाता है।

।। इति द्रविणसंस्थ प्रजापति विवेचनम् ।।४।।

पाँचवाँ है—उपग्रहसंस्थ प्रजापति। 'ज्योतिष्कृष्ण-रहस्य' में बतलाया गया है कि पुरुष आत्मा-शरीर-महिमा भेदेन त्रिसंस्थ होता है। इनमें जो महिमा है, वह अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भेदेन दो प्रकार की है। अन्तरङ्ग महिमा को 'उपग्रह' कहते हैं तथा बहिरङ्ग महिमा को 'कात्स्न्र्यसंस्थ प्रजापति' कहते हैं। वेद-लोक-वाक् तीन ही उपग्रह अर्थात् अन्तरङ्ग महिमाएँ कहलाती हैं। शरीर-पिण्ड से निर्गत शरीर के ही अमृताग्नि का जो महिमा-मण्डल है उसी का नाम उपग्रह है। इस उपग्रह में अर्थात् महिमा-मण्डल में वेदसाहस्री-लोक साहस्री, और वाक्साहस्री—ये तीन साहस्री होती हैं। शरीर चित्यपिण्ड है, महिमा चितेनिधेपिण्ड है। इस चित्तेनिधेमण्डल में शब्द-वाक् भरा रहता है, जिसका कि स्वरूप हम अभी आगे बतलाने जा रहे हैं। वाक्-सम्बन्ध से ही यह महिमामण्डल 'वषट्कार' कहलाता है। इस वाक् पर ऋग्-यजुः—सामात्मिका वेद-त्रयी रहती है एवं इसी वाक् में त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश त्रयस्त्रिंश क्रम से—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः—ये चार लोक रहते हैं। बस, इनकी समष्टि का नाम ही महिमामण्डल है। हृद्य—इन्द्र विष्णु की स्पर्द्धा से इस साहस्री का वितान होता है, अतएव—इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्[3] यह कहा जाता है। 'त्रेधा सहस्र' पर ब्राह्मण-श्रुति प्रश्न करती है—

---

१ ऐ०ब्रा० १।२८।८।२। २ तै०ब्रा० १।१।६।७। ३ ऋग्वेद मं० ६।६६।८।

किं तत् सहस्रमिति[1] फिर स्वयं उत्तर देती है–इमे लोका–इमे वेदा-अथोवागिति ब्रूयात्[2] इति। बस, उपग्रह अर्थात्–अन्तरङ्ग-महिमाविशिष्ट जो आत्मप्रजापति है वह 'उपग्रहसंस्थ प्रजापति' कहलाता है।

।। इति उपग्रहसंस्थ प्रजापति विवेचनम् ।।५।।

छठा है–कात्स्न्र्यसंस्थ प्रजापति। जाया-प्रजा-वित्त ये तीन ही कात्स्न्र्य कहलाते हैं। प्रजा, स्त्री और वित्त तीनों बहिरङ्ग महिमाएँ कहलाती हैं। जब तक ये तीनों नहीं होती हैं तब तक जीवात्मा अपने आपको अधूरा समझता है। सबसे पहले उसे स्त्री की इच्छा होती है। जब स्त्री आ जाती है तो पुत्र-पौत्रादि प्रजा की इच्छा होती है। प्रजा के बाद वित्त की अर्थात् द्रव्य की इच्छा होती है। जब तक तीनों नहीं हो जाते तब तक यह अपने आपको अधूरा समझता है। कात्स्न्र्यता, जाया-प्रजा-वित्त इन्हीं से आती है। इसी अभिप्राय से बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

"आत्मैवेदमग्रऽआसीत्। स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स इममेवात्मान द्वेधा पातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्" इत्यादि।[3]

जाया-प्रजा-वित्त युक्त जो आत्मप्रजापति है उसे ही कात्स्न्र्य प्रजापति कहते हैं।

।। इति कात्स्न्र्यसंस्थ प्रजापति विवेचनम् ।।६।।

इस प्रकार आत्मा से प्रजापति का क्रम प्रारम्भ होता है और कात्स्न्र्य पर आ कर समाप्त होता है। इन छह के अलावा प्रजापति है ही नहीं। जो अव्यय प्रजापति है जिसे कि आत्मसंस्थ-प्रजापति कहा गया है, वह 'अनिरुक्त प्रजापति' कहलाता है।

---

१ ऐ०ब्रा०अ० २८।७। २ ऐ०ब्रा०अ० २८।७।
३ शत०ब्रा० १४।४।२।१ व ४–५।

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" ॥[1]

यह वही अनिरुक्त प्रजापति है । यही हमारा अनिरुक्त कृष्ण है । अव्यय को ही–अनिरुक्त कृष्ण को ही–हम 'ईश्वर' कहते हैं । जो छठा कात्स्न्र्यसंस्थ प्रजापति है, जिसके उदर में पूर्व के पाँचों प्रजापति आ जाते हैं, वही सर्वप्रजापति कहलाता है । यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि एक ही प्रजापति, जाया-प्रजा-तनु में व्याप्त रह कर अपने छह स्वरूप धारण कर लेता है ।

एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्[2]—यह सिद्धान्त है । वही प्रजापति छह नामों से व्यवहृत होने लगता है । छह प्रजापति नहीं हैं । प्रजापति की छह अवस्थाएँ हैं । अवस्थाभिप्रायेण, छह प्रजापति बतला दिए जाते हैं । इस बहिर्महिमा तक व्याप्त रहने वाला जो कात्स्न्र्यसंस्थ प्रजापति है, उसी का 'सर्वप्रजापति' कहा जाता है । इस सर्वप्रजापति के अलावा संसार में कुछ भी नहीं है । सर्वत्र इसी प्रजापति की महिमा व्याप्त हो रही है । इसी सर्वप्रजापति का स्वरूप बतलाती हुई श्रुती कहती है—

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्" ॥[3]

यही प्रजापति का स्वरूप है । अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से पूर्व का विभाग स्पष्ट समझ में आ जाता है ।

---

१ यजुर्वेद सं० ३१।१९ । २ ऋग्वेद मं० ८।५८।२ ।
३ यजुर्वेद सं० २३।६५ ।

प्रजापति स्वरूपम्		
ग्रात्मसंस्थ प्रजापतिः	ग्रव्यय, ग्रक्षर, क्षर	आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाङ्मयोऽव्ययः । ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-ग्रग्नि-सोमात्मकोऽक्षरः । प्राणापवाक् ग्रन्नादान्नात्मक क्षर ।
गुणसंस्थ प्रजापतिः	प्रतिष्ठा, ज्योतिः, यज्ञ	ब्रह्म प्रतिष्ठा नाम रूप, ज्योतिः ग्रन्नं यज्ञः ।
शरीरसंस्थ प्रजापतिः	बीज, दैवत, भूत	शुक्र, काम, कर्म्म इति बीजानि । ग्रग्नि वाय्वादि देवतानि । पञ्चभूः ।
द्रविणसंस्थ प्रजापतिः	ब्रह्म, क्षत्र, विट्	
उपग्रहसंस्थ प्रजापतिः	वेद, लोक, वाक्	ऋक्-साम-यजुरिति वेदाः—पृथिव्यादि लोकाः वाक् वा ।
कात्स्न्र्यसंस्थ प्रजापतिः	जाया, प्रजा, वित्त	

इस प्रकार प्रजापति कुल चार हैं । ईश्वर-प्रजापति, प्रतिमा-प्रजापति, जीव-प्रजापति, उपस्कर-प्रजापति । बस, सारे ब्रह्माण्ड में प्रजापति चार ही प्रकार के हैं एवं प्रत्येक प्रजापति पूर्वोक्त छहों संस्थाग्रों से युक्त हैं । जो मूल प्रजापति है, जिसे कि हम स्वयम्भू कहेंगे वही 'ईश्वर प्रजापति' कहलाता है । यह ईश्वर प्रजापति ग्रर्थात्—स्वयम्भू प्रजापति हमारी ग्रपेक्षा से एक है । इस ईश्वर के उदर में ईश्वर की प्रतिमास्वरूप, चार प्रतिमा प्रजापति हैं । वे

चारों–परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा और पृथिवी–इन चार नामों से प्रसिद्ध हैं। चारों ही प्रजापतियों की अपनी-अपनी छह संस्थाएँ हैं। इन चारों ही प्रतिमा-प्रजापतियों में रहने वाले जो हम अनन्त जीव हैं, वे 'जीव प्रजापति' कहलाते हैं।

संसार में जो जड़ पदार्थ हैं–मिट्टी-ढ़ेला-पत्थर-पेन्सिल-कागज-दवात-कलम-स्याही-पर्वत इत्यादि ये सब उपस्कर प्रजापति कहलाते हैं। बस, प्रजापति कुल चार ही जाति के हैं। हमने ईश्वर प्रजापति एक बतलाया है परन्तु यह हमने अपनी अपेक्षा से कहा है। वस्तुतः देखा जाए तो ईश्वर अनन्त हैं, परमेश्वर एक है। सर्वबलविशिष्ट रस का नाम परमेश्वर है। उस परात्पर विराट् का महामायावच्छिन्न जो अल्प प्रदेश है वह ईश्वर कहलाता है। ऐसे-ऐसे अनन्त परिच्छेद उस महारस में हैं अतएव उसे हम अनन्त ईश्वर कहने के लिए तय्यार हैं। वह प्रत्येक ईश्वर परमप्रजापति किंवा स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध है। इस एक-एक स्वयम्भू परमप्रजापति, ईश्वरप्रजापति के उदर में अनन्तानन्त प्रतिमाप्रजापति हैं। वह ईश्वरप्रजापति 'अश्वत्थ वृक्ष' कहलाता है। हमारी अपेक्षा से ईश्वर का, स्वयम्भू भगवान् का, स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है––

"यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"।[1]

"ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्"॥[2]

यह इसी ईश्वर प्रजापति के लिए कहा जाता है। इस ईश्वर को जब वृक्ष-स्वरूप मान लिया जाता है तो इसकी जो अनन्त ज्ञान-रश्मियाँ हैं, उन्हें टहनी शब्द से व्यवहृत किया जाता है। टहनी को वैदिक परिभाषा में 'बलशा' कहते हैं। इस एक-एक बलशा में परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी ये

---

१ महानारायणउप० १०।४। २ गीता १५।१।

चार-चार प्रतिमा प्रजापति हैं। चूँकि उस अश्वत्थ ईश्वर वृक्ष में सहस्रों बलशाएँ हैं एवं प्रत्येक में चार-चार प्रतिमा प्रजापति हैं अतएव ईश्वरवत् प्रतिमा प्रजापति भी अनन्त हो जाते हैं। प्रजापति में से इन प्रत्येक गणनातीत में रहने वाले जीव के आनन्त्य (अनन्तता) का तो कहना ही क्या है ? उपस्कर की चर्चा ही क्या करें ? जब कि जीव संख्या की ही गणना नहीं हो सकती। परिमित होते हुए भी सारा प्रपञ्च अपरिमित है। ईश्वर भी अनन्त हैं–प्रतिमा भी अनन्त हैं–जीव भी अनन्त हैं–उपस्कर भी अनन्त हैं–सब अनन्त हैं अतएव हम **सर्वमेतदानन्त्यम्** का घण्टा-घोष कर रहे हैं। इसीलिए–**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[1]–यह कहा जाता है। इस प्रकार प्रजापति हैं अनन्त, किन्तु ईश्वर-प्रतिमा-जीव-उपस्कर भेदेन इनकी जातियाँ कुल चार ही हैं एवं प्रत्येक प्रजापति की आत्मा-गुणादि छह संस्थाएँ हैं। दर्शनों में प्रायः 'ईश्वर और जीव' इन दो प्रजापतियों का ही वर्णन आया है। प्रतिमा और उपस्कर को जड़ समझ कर छोड़ दिया गया है, किन्तु वेद में इन दोनों का भी वर्णन आया है। लोक में जिसे व्यक्ति कहा जाता है, वह जिसकी अभिव्यक्ति है, उसे ही हम प्रजापति कहेंगे। घट-पट-मठ-सूर्य्य-चन्द्र-मनुष्य-कीट-कृमि-पुस्तक-दवात-कलम-कुर्सी-टेबिल ये सब 'व्यक्तियाँ' कहलाती हैं। असल में इनका नाम व्यक्ति नहीं है–अपितु, 'अभिव्यक्ति' है। अभिव्यक्ति को ही 'व्यक्ति' कहते हैं। यह व्यक्ति है अर्थात्–यह पदार्थ अभिव्यक्त हो रहा है, प्रतीत हो रहा है। प्रतीति को ही अभिव्यक्ति कहते हैं। 'अभिव्यक्ति' में से 'अभि' का लोप हो जाता है तो 'व्यक्ति' शेष रह जाता है। बस, ये सारी व्यक्तियाँ जिसकी अभिव्यक्ति हैं, उसे ही हम 'प्रजापति' कहेंगे। **इदमस्ति**–यह है, इस रूप से जो दिखता है, इसी भाव का नाम 'अभिव्यक्ति' है। वह क्या दिखता है ? यह प्रश्न होता है। जो कुछ दिखता है, पदार्थ अभिव्यक्त हो रहा है–वही 'प्रजापति' है। कौन अभिव्यक्त हुआ ? जो अभिव्यक्त हुआ वही प्रजापति 'प्रजापति' है। 'अभिव्यक्त'–भाव का नाम ही प्रजापति है। चूँकि अभिव्यक्तियाँ अर्थात-व्यक्तियाँ अनन्त हैं अतएव प्रतिव्यक्ति प्रजापति भी भिन्न-भिन्न ही है एवं अनन्त हैं। एक-एक व्यक्ति में एक-एक प्रजापति है। संसार के जितने भी पदार्थ हैं,

---

१ तै०उप० २।१।१।

वे सब प्रजापति हैं, प्रजापति से अतिरिक्त अणुमात्र भी स्थान खाली नहीं है यही इस प्रकरण का निष्कर्ष है। इसीलिए—**यद्वै किंच प्राणि स प्रजापतिः**[1]—यह कहा जाता है। बिना प्राण के भूत नहीं रह सकता। प्राण को ही प्रजापति कहते हैं। चूँकि प्राणसमष्टि कुल चार ही प्रकार की हैं, अतएव 'ईश्वर-प्रतिमा-जीव-उपस्कर' भेदेन प्रजापति भी, चार ही जाति के होते हैं। सगुण, सशरीर, सद्रविण सोपग्रह, सकात्स्न्र्य, जो सत्यात्मा है, वही प्रजापति है। षट्संस्थ को ही प्रजापति कहते हैं। इन छहों में सत्यात्मा षोडशकल है। प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ आत्मगुण हैं। ये तीनों आत्मा के अन्तरङ्ग वीर्य्य कहलाते हैं। बीज-दैव-भूत ये शरीर कहलाते हैं एवं वित्त को द्रविण कहते हैं। ब्रह्म-क्षत्र-विट् ये तीन जो बहिरङ्गवीर्य्य हैं, ये ही द्रविण कहलाते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"इयमेकैका व्यक्तिर्यस्याभिव्यक्तिः स प्रजापतिः स प्रजापतिः। प्रतिव्यक्ति भिन्नः प्रजापतिः। सगुणः, सशरीरः सोपग्रहः, सकात्स्न्र्यः, सत्यः प्रजापतिः। तत्र षोडश कलोदयमात्मासत्यः। प्रतिष्ठा ज्योतिर्यज्ञा आत्मगुणाः। तान्यन्तरङ्ग वीर्य्याणि ॥१॥ बीज दैवत भूतानि शरीराणि ॥२॥ वित्तानि द्रविणानि। ब्रह्म-क्षत्र-विड्–इति बहिरङ्गाणिवीर्य्याणि द्रविणानि" ॥

षट्संस्थ प्रजापति में से पहले प्रजापति का नाम आत्मप्रजापति है। यह आत्मप्रजापति पञ्चकलाव्यय-पञ्चकलाक्षर-पञ्चकलक्षर एवं सोलहवें परात्पर से षोडश कहलाता है। इस षोडशकल आत्मप्रजापति से ही प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ ये आत्मगुण और बीज-दैवत-भूत ये शरीर उत्पन्न होते हैं, जैसा कि हमने पूर्व प्रकरण में बतला दिया है। श्रुति कहती है—

"यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" ॥[2]

इसका तात्पर्य्य यही है कि उस आत्मसर्वज्ञ प्रजापति से ही ब्रह्म-नाम-रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं। इसमें जो **तस्मात्** पद है उससे आत्मक्षर

---

१ शत०ब्रा० ११।१।६।१७। २ मुण्डक उप० १।९।

अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अव्यय आलम्बनस्वरूप है, अक्षर निमित्त कारण है, क्षर उपादान कारण है। क्षर से ही वस्तु उत्पन्न होती है। यहाँ क्षर से आत्मक्षर समझना चाहिए। चूँकि यह क्षर बिना अक्षर के नहीं रहता एवं अक्षर बिना अव्यय के नहीं रहता अतएव—**यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मात्०** से **षोडशी** अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है, परन्तु वास्तव में 'तस्मात्' से आत्मक्षर का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। जिसकी कि ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ये पाँच कलाएँ हैं। बस, पञ्चकलोपेत इस आत्मक्षर से ही प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ ये तीन आत्मगुण उत्पन्न होते हैं। ये प्रतिष्ठादि तत्त्व उत्पन्न यद्यपि क्षर ब्रह्मा-विष्णु आदि से ही होते हैं तथापि क्षर बिना अक्षर के नहीं रहता अतएव इन पाँचों आत्मक्षरों को 'अक्षर' कह दिया जाता है। इसी अभिप्राय से अक्षर के निमित्तकारणस्वरूप होने पर भी **तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति**[1]—यह कह दिया जाता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोमात्मक आत्मक्षर से ही जिसे कि **अक्षरादभिन्नाभावेन** अक्षर भी कह देने से हम भी आगे अक्षर शब्द से ही व्यवहृत करेंगे ब्रह्म नाम-रूप-अन्न अर्थात् प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ और बीज-दैवत-भूत ये उत्पन्न होते हैं। यह सारी सृष्टि इन्हीं पाँचों अक्षरों से (आत्मक्षरों से) होती है। इन पाँचों में जो ब्रह्मा नाम का अक्षर (आत्मक्षर) है उससे ब्रह्म उत्पन्न होता है। प्रतिष्ठातत्त्व के ठहराव का नाम ही ब्रह्म है। ब्रह्म आलम्बन है। बिना आलम्बन के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। नई सृष्टि से पहले ब्रह्मालम्बन की आवश्यकता होती है, अतएव ब्रह्म को 'प्रथमज' और 'प्रतिष्ठा' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इसी प्रतिष्ठा-ब्रह्म को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वंदेवेभ्यो अमृतस्य नाम। यो मा ददाति स इदेव माव दहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" ॥[2] **"न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः"** ॥[3]

---

१ मुण्डक उप० २।१।१। २ सामवेद पू० ६।३।१०।६।
३ ऋग्वेद मं० १।१६४।३७।

'प्रथमजा' इसी प्रतिष्ठातत्त्व के लिए कहा गया है। प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ ये तीनों कभी अलग नहीं होते अतएव तीनों को ही हम 'प्रथमजा' कहने के लिए तय्यार हैं। ब्रह्मा से प्रतिष्ठातत्त्व का जन्म होता है। इन्द्र अक्षर से नामरूपस्वरूप ज्योति का जन्म होता है। रूप के अधिष्ठाता इन्द्र ही हैं, इसीलिए **रूपं-रूपं मघवा बोभवीति**[1] **इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्**—यह कहा जाता है एवं विष्णु अक्षर से यज्ञ उत्पन्न होता है, अतएव **यज्ञो वै विष्णुः**[2] **विष्णुर्वैयज्ञः**[3]—यह कहा जाता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र तीनों सयुक कहलाते हैं। तीनों जोड़ले (जुड़वाँ) हैं। एक के बिना दूसरा एक क्षण भी नहीं रह सकता। तीनों ही हृद्य हैं। तीनों से ही प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ का जन्म होता है, जिनका विस्तृत विवेचन पृथक् प्रकरणों में कर दिया गया है। शेष रहते हैं अग्नि और सोम। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र सयुक् हैं, उसी प्रकार अग्निसोम भी सयुक् हैं। दोनों अविनाभूत हैं अतएव—**अग्नीषोमौ वै देवानां सयुजौ**[4]—यह कहा जाता है। इसीलिए **अग्निर्जागार**[5] इत्यादि कहा जाता है। इन अग्नि और सोम से ही बीज, दैवत और भूत का निर्माण होता है। अग्नि-अग्नि से तो देवता उत्पन्न होते हैं, सोम-सोम से भूत उत्पन्न होते हैं। सौम्य-प्राण भूत का जनक है एवं आग्नेय प्राण देवता का जनक है। आत्मा को मन-प्राण-वाङ्मय माना जाता है। मन सोममय है अतएव **मनश्चन्द्रेण लीयते**—यह कहा जाता है। इस सोममय मन से उत्पन्न जो प्राण हैं, वे आग्नेय-सौम्य भेदेन दो प्रकार के हैं। मन शुद्ध सोममय ही नहीं है, अग्नि भी उसमें है। अग्नि के बिना तो सोम रह ही नहीं सकता। इस मन से जो सौम्यप्राण उत्पन्न होता है, इसी प्राण (सौम्यप्राण) से पाँचों भूत उत्पन्न होते हैं। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश ये ही पाँच भूत हैं। प्राण से उत्पन्न होने वाला पहला भूत आकाश है। आकाश से ग्रन्थिबन्धन द्वारा उत्पन्न होने वाला दूसरा भूत वायु है। वायु से उत्पन्न होने वाला भूत अग्नि है। अग्नि से उत्पन्न होने वाला भूत पानी है, पानी से उत्पन्न होने वाला भूत, मिट्टी है, इसे ही पृथिवी कहते हैं। जिस

---

१ ऋग्वेद मं० ३।५३।८।

२ शत०ब्रा० १३।१।८।८। ३ ऐ०ब्रा०अ० १।१५।

४ शत०ब्रा० ३।४।४।६। ५ ऋग्वेद मं० ५।४४।१५।

सौम्यप्राण से भूत उत्पन्न होते हैं, वह प्राण बिना मन के नहीं रह सकता। मन-प्राण की समष्टि को ही आत्मा कहते हैं अतएव श्रुति कहती है—

"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी"।[1]

यह सोम जिससे कि भूत उत्पन्न होते हैं-ध्रुव-धर्त्र-धरुण-धर्म्म (निबिड-तरल-विरल-प्रसृत) भेदेन चार प्रकार का है। धर्म्म सोम से आकाश बनता है, धरुण से वायु और तेज बनते हैं, धर्त्र से पानी बनता है, ध्रुव से पृथिवी बनती है। दूसरा है अग्नि, जिससे अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वर-दिक् सोम ये पाँच देवता उत्पन्न होते हैं। चूँकि अग्निसोम सर्वथा अविनाभूत रहते हैं एवं अग्नि से देवचिति होती है तथा सोम से भूतचिति होती है, अतएव मानना पड़ता है कि न देवता भूत से पृथक् रहते हैं, न भूत देवता से पृथक् रहते हैं, फ़र्क इतना है कि देवताओं में आग्नेयप्राण उल्वण रहता है, सौम्य प्राण अनुल्वण रहता है। भूतों में सौम्यप्राण उल्वण रहता है, आग्नेयप्राण अनुल्वण रहता है। सोम प्रधान भूत हैं, अग्नि प्रधान देवता हैं। देवता और भूत दोनों को किसी आलम्बन की अपेक्षा है, दोनों किस आधार पर स्थित हों? इन दोनों को स्थिति के लिए जिस पर अवकाश मिलता है उसी का नाम 'अविद्या' है। इसी अविद्या को वैज्ञानिक परिभाषा में 'बीज' कहते हैं। हमने बतलाया है कि बीज 'शुक्र-काम-कर्म्म' भेदेन तीन प्रकार का है। ज्ञान-शक्तिजन्य संस्कार क्षुद्र है, इसे ही 'भावना' कहते हैं। क्रियाजन्यसंस्कार कर्म्म है, इसे ही 'वासना' कहते हैं। शुक्र शुद्धभावनामय है, कर्म्म शुद्धवासनामय है। बीच की इच्छा का जनक जो मन है, वह चूँकि ज्ञानकर्म्मोभयात्मक है अतएव यह भी वासना-भावना उभयात्मक है। बस, भावना और वासना ये ही दो बीज हैं। आत्मा आधार है, शुक्रादि बीज हैं एवं भावना-वासना अंकुर हैं। शरीर वृक्ष है एवं बीज भी बिना किसी प्रतिष्ठा के नहीं रह सकता। कोई आलम्बन हो तब न बीज-वपन किया जाए? वह आलम्बन प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञस्वरूप आत्मा ही तो है। यज्ञात्मा पर ही, बीज-वपन होता है।

---

१ तै०उप० २।१।१।

यज्ञात्मा में प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ तीन चीजें हैं। तीनों में जो प्रतिष्ठा है, वह तो शुक्र का अर्थात् ज्ञान का ज्ञानानुभवादित भावनासंस्कार का आलम्बन है। ज्योति, मन का आलम्बन है। मन ही तो रूपाकाराकारित होता है एवं यज्ञ कर्म्म का आलम्बन है। आदान-विसर्ग का नाम ही तो कर्म्म है, इसी का नाम तो यज्ञ है। बस, इस प्रकार ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र से तो प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ का जन्म होता है; अग्नीषोम से बीज-देवता-भूत उत्पन्न होते हैं। प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ आत्मा के गुण हैं। चूंकि आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता अतएव इन तीनों का भी स्वरूप हम आँखों से नहीं देख सकते एवं अग्नि-सोम इस आत्मा के शरीर हैं, इनका हमें प्रत्यक्ष-दर्शन होता है। जिसे हम भूत-भूत कह रहे हैं वे कुल पाँच प्रकार के हैं १—गुणभूत, २—अणुभूत, ३—रेणुभूत, ४—महाभूत, ५—भूत।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पाँच तो गुणभूत हैं। इन्हीं को सांख्यदर्शन **तन्मात्रा** शब्देन व्यवहृत करता है। दूसरे हैं—'अणुभूत'। परमाणु स्व-स्वरूप जो पृथिवी-जल-तेज-वायु हैं, उनका नाम 'अणुभूत' है। ये ही पाँच तत्त्व कहलाते हैं। इनका जो पञ्चीकरण है, वही रेणुभूत कहलाता है। आधे में पृथिवी, आधे में चारों; इस प्रकार पञ्चीकृत जो भूत हैं उन्हें 'रेणुभूत' कहा जाता है। पञ्चीकरण से पाँच भूत 'पच्चीस' हो जाते हैं। एक-एक रेणुभूत में तीस-तीस परमाणु रहते हैं एवं इनका जो संयोग है, उससे जो उत्पन्न होते हैं वे 'महाभूत' कहलाते हैं। हम जिन्हें आँखों से देखते हैं, वे ही 'पाँचों महाभूत' हैं। ध्यान रहे—ये तत्त्व नहीं हैं, इनमें तो एक-एक में असंख्य चीजें हैं। ये ही क्या तत्त्व नहीं हैं? पञ्चीकृत रेणुभूत भी तत्त्व नहीं है। तत्त्व तो अणुभूत ही कहलाता है, परन्तु हैं वे पाँच ही। इन रेणुभूतों तक संख्या-विभाग रहता है, बाद में संख्या का विभाग नहीं हो सकता। इन स्थूल-दृश्य-पृथिवी-जलादि, पाँचों महाभूतों के संयोग से तथा अन्य विकारों के सम्बन्ध से अस्मादि (वृक्ष-वनस्पति-पशु-पक्षी-मनुष्य-कृमि-कीट) इत्यादि भूत उत्पन्न होते हैं वही भूत कहलाते हैं। परन्तु ध्यान रहे, इन भूतों की उत्पत्ति होती है—उस सोमप्राण से ही। मैथुनी-मानसी भेदेन सृष्टि दो प्रकार की होती है। यौगिक सृष्टि को मैथुनी सृष्टि कहते हैं। यह सृष्टि रेणुभूत से प्रारम्भ होती है अतएव इसके ऊपर वाले अणुभूतों को हम 'तत्त्व' कहने के लिए तय्यार हैं। अस्तु, इन

विषयों का विस्तृत विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। हमें कहना यही है कि जो महाभूत हैं, उनके संयोग से 'भूत' उत्पन्न होते हैं। सबसे पहले प्राण रहता है। यह प्राण वैश्वानर प्राण है। अग्नि, वायु, आदित्य तीनों के मेल से हमारे देह में जो एक प्राण उत्पन्न होता है उसे ही वैश्वानर प्राण कहते हैं। इसी वैश्वानर अग्नि पर क्रमशः शुक्र-मज्जा-मेदा-मांस-असृक्-रस-त्वचा-लोम इनका चुनाव (चेजा अर्थात् चुनाई-सं.) होता है—ये ही भूतचिति कहलाती हैं। अग्नि-चक्षु-आदित्यादि पाँचों देवताओं का जो चुनाव है—वह 'देवचिति' कहलाती है एवं भावना-वासना का जो आत्मा पर चयन है वह 'बीज चिति' कहलाती है। बीजचिति को 'कारणशरीर' कहते हैं। देवचिति को 'सूक्ष्मशरीर' कहते हैं एवं भूतचिति को 'स्थूलशरीर' कहते हैं। इस सारे प्रपञ्च से यही सिद्ध हुआ कि 'हृद्य'—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र सयुक् से तो प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञस्वरूप आत्मगुण उत्पन्न होते हैं एवं अग्नि-सोम अक्षर (आत्मक्षर) से बीज-दैवत-भूतस्वरूप शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार आत्मा से ले कर रोमावली पर्य्यन्त शरीर का निर्म्माण पूर्वोक्त क्रमानुसार ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम इन पाँच अक्षरों से ही होता है। बीज-दैवत-भूत आत्मा से बद्ध शरीर की वस्तु हैं, बहिरङ्ग वस्तु हैं एवं प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ तीनों आत्मा की अन्तरङ्ग वस्तु हैं क्यों कि इन्हीं से आत्मसत्ता रहती है। इसी अभिप्राय से—प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञाः—तान्यन्तरङ्गाणि वीर्य्याणि—यह कहा गया है। इसके बाद नम्बर आता है-द्रविण और उपग्रह का। उपग्रह को 'अक्षिति' कहा जाता है। इन दोनों का नाम ही 'महिमा-मण्डल' है। सूर्य्य का पिण्ड महिमामण्डल शरीर से बाहर ३३ वें अहर्गण तक वितत रहता है। सूर्य्य शरीर है, सूर्य्य का जो प्रकाशमय सोलरसिस्टम है वही महिमामण्डल है। इस महिमामण्डल के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित रहता है। सूर्य्य-पिण्ड के भी केन्द्र में वही आत्मा बैठा हुआ है। सूर्य्य-केन्द्र में बैठा हुआ आत्मा अणोरणीयान् है एवं वही आत्मा उस सारे महिमा-मण्डल पर व्याप्त हो कर महतोमहीयान् कहला रहा है अतएव—

"अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः"।[1]

---

१ महानारायण उप० ८।३।

—यह कहा जाता है। सूर्य्य निदर्शनमात्र है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में महिमा-मण्डल रहता है। इस महिमा-मण्डल के केन्द्र में वह आत्म-संस्थ और शरीरसंस्थ प्रजापति प्रतिष्ठित रहता है, अतएव-स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठति कहा जाता है। इस महिमा-मण्डल में उपग्रह और द्रविण दो पदार्थ रहते हैं। ब्रह्म-क्षत्र-विट् इनका नाम द्रविण है। ये आत्मवित् कहलाते हैं एवं उपग्रह का नाम है—वेद-लोक-वाक्-भूत-पशु (ऋत-छन्द)। जिस प्रकार ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र से प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ उत्पन्न होते हैं एवं अग्नि-सोम से—'बीज-दैवत-भूत' उत्पन्न होते हैं, तथैव ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र से ब्रह्म-विट्-क्षत्र वीर्य्य उत्पन्न होता है। ब्रह्मा से ब्रह्मवीर्य्य होता है। इन्द्र से क्षत्रवीर्य्य उत्पन्न होता है। विष्णु से विड्वीर्य्य उत्पन्न होता है एवं पूषा देवता से जो कि पार्थिव कृष्ण-प्राण-मिश्रित है, सत् शूद्र का आत्मा बनता है। जिसके आत्मा में देवभाव उल्वण रहता है, वह वर्ण कहलाता है। वह वर्ण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र (सच्छूद्र) भेदेन चार प्रकार के हैं। इनमें ब्रह्मवीर्य्य जिनके आत्मा में उल्वण होता है, वे 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। क्षत्रवीर्य्य जिनके आत्मा में उल्वण हो जाता है, वे 'क्षत्रिय' कहलाते हैं। विट्वीर्य्य जिनके आत्मा में उल्वण होता है, वे 'वैश्य' कहलाते हैं एवं पूषाप्राण जिनके आत्मा में उल्वण होता है, वे 'सच्छूद्र' कहलाते हैं। चूँकि इनमें पूषाप्राण रहता है अतएव इन्हें वर्ण में शामिल कर लिया जाता है। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि सबमें सब वीर्य्य रहते हैं, केवल उल्वण-अनुल्वणता का अन्तर है। जिनकी आत्मा में पूषा भी नहीं रहता तथा जिनकी आत्मा में शुद्ध आसुरभाव उल्वण रहता है वे 'अवर्ण' कहलाते हैं। **गायत्र्या ब्राह्मणे निरवर्त्तयत् त्रिष्टुभाराजन्यम्-जगत्यावैश्यम्—नकेनचिच्छन्दसा शूद्रं** निरवर्त्तयत् में 'नकेनचित्' इत्यादि अवर्ण शूद्र के लिए कहा गया है। जैसे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र चार वर्ण हैं, वैसे ही अन्त्यज-अन्त्यावसायी,-दस्यु-म्लेच्छ ये चार अवर्ण हैं, जो सर्वथा अस्पृश्य हैं एवं वर्णशूद्र स्पृश्य हैं। इन्हीं का भेद बतलाते हुए भगवान् पाणिनि कहते हैं—

"शूद्राणामनिरवसितानाम् अनिरवसित"।

यही सच्छूद्र है, जिसे कि वर्ण में शामिल किया जाता है एवं निर-वसित अवर्ण है, जिन्हें कि अन्त्यजादि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

अस्तु, कहना हमें यही है कि ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र इन तीन अक्षरों से (आत्मक्षरों से) तीन वीर्य्य उत्पन्न होते हैं। ये तीनों ही आत्मा की खूबी हैं, यद्यपि रहते हैं महिमा में ही, परन्तु हैं आत्म-धर्म्म। वीर्य्य का सम्बन्ध आत्मा से है, न कि शरीर और महिमा से तथापि साथ में ही इतना और समझ लेना चाहिए कि षोडशी और यज्ञात्मा इन दोनों में से इन वीर्य्यों का सम्बन्ध यज्ञात्मा से है, जिसका कि स्वरूप अनुपद में ही बतलाने वाले हैं। षोडशी-आत्मा सब कुछ है, यह असंग है, उसके लिए तो—

"तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति। अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः इत्यादि"।[1]

—यह कहा जाता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र के बाद हैं—अग्नि-सोम। इनसे उपग्रह अर्थात् 'अशिति' का निर्म्माण होता है। पशु अर्थात् छन्द-वेद-लोक-भूत-वाक् पाँचों अशितियाँ इन्हीं दोनों (अग्नि-सोम) से बनती हैं। इसके बाद क्रम है कात्स्न्र्य प्रजापति का। महिमा, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भेदेन दो प्रकार की बतलाई थी। बहिरङ्ग महिमा को ही 'कात्स्न्र्यसंस्थ प्रजापति' कहते हैं। यह कात्स्न्र्य काम्य और आत्म भेदेन दो प्रकार की होती है। जाया-प्रजा-वित्त ये तीनों कामना से, इच्छा से, उत्पन्न होते हैं। यदि कामना न होगी तो तीनों ही नहीं मिलेंगे; इसे ही **काम्यकात्स्न्र्य** कहते हैं एवं जो संसार से विरुद्ध मनुष्य हैं, निष्काम हैं, निस्पृह हैं; उनका कात्स्न्र्य मन-प्राण-वाक् ही है। वाक् ही उनकी जाया है। प्राण पुत्र है, मन वित्त है। इन तीनों से इनका आत्मापूर्ण हो जाता है। इन तीनों के बिना आत्मा अपने को अधूरा समझता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"आत्मैवेदमग्रऽआसीत्। एक एव सोऽकामयत जाया मे स्यात् अथ प्रजायेय। अथ वित्तं मे स्यात्। अथ कर्म कुर्वीय इत्येतावान्वै

---

१ बृहद आ०उप० ४।३।२२।

कामो नेच्छंश्चनातो भूयो विन्देत् । तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यात् । अथ प्रजायेय । अथ वित्तं मे स्यात् । अथ कर्म्म कुर्वीय इति । स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोति अकृत्स्न एव तावन् मन्यते तस्यो कृत्स्नता" ।[1]

विषय अति गम्भीर है । बहुत कुछ विस्तार करने पर भी विषय खुलता नहीं अतएव पुनरादिदोष का ज़रा भी ख़याल न कर हम एक ही बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से बतलाते हैं । अब तक हमने उस प्रजापति को षट्संस्थ बतलाया परन्तु अब उसी का दूसरे प्रकार से स्वरूप बतलाएँगे । यह सारा प्रपञ्च उसी ब्रह्म से बना है । ब्रह्म ही विश्व का प्रभव है । ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है, ब्रह्म ही परायण है, ब्रह्म ही सब कुछ है । इस ब्रह्म के तीन भाव हो जाते हैं । एक का नाम है–विश्व, दूसरे का नाम है–विश्वचर, तीसरे का नाम है–विश्वातीत । ब्रह्म रस का अनन्त समुद्र है । सर्वत्र वही रस-समुद्र में व्याप्त हो रहा है । रस ही तो उस ब्रह्म का असली स्वरूप है अतएव–**रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति**[2]– इस व्यापक, असीम रस-समुद्र का एक थोड़ा सा हिस्सा विश्व बन जाता है । उस ब्रह्म का यत्-किञ्चित् प्रदेश मायादि बलों की ग्रन्थियों के कारण विश्वस्वरूप में–कार्य्यस्वरूप मे–परिणत हो जाता है । हम जिस पर बैठे हुए हैं वह पृथिवी का–मिट्टी का–गोला है । इसके जरा-से हिस्से से घड़ा बन जाता है । मिट्टी ही घड़ा बन रही है । सूर्य्य-रश्मियाँ ही पार्थिवप्राण में बद्ध हो कर 'सुवर्ण' बनी हुई हैं । मिट्टी एवं सूर्य्य क्रमशः घट तथा सुवर्ण का कारण है । ठीक इसी प्रकार वही रसबल-विशिष्ट ब्रह्म इस विश्व का कारण है, विश्व कार्य्य है । विश्व कार्य्य-स्वरूप होते हुए भी असल में है ब्रह्म ही । घड़ा मिट्टी ही तो है । बस, यह जो विश्व है, वही ब्रह्म का पहला भाव है जिसे कि हम कार्य्यब्रह्म कहेंगे । जिसे 'संसार' कहा जाता है, जो 'जगत्' कहलाता है–वही हमारा 'कार्य्यब्रह्म' है । यही 'स्थूल' ब्रह्म है, इन्द्रिय-गम्य है, विज्ञेय है, इसी को 'सृष्टब्रह्म' भी कहा जाता है । श्रुति कहती है –**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** ।[3]

---

१ शत०ब्रा० १४।४।२।३० । २ तै०उप० २।७।१ । ३ तै०उप० २।६।१ ।

वह ब्रह्म अपने एक हिस्से से सारे विश्व को बना, आप उसके केन्द्र में बैठ जाता है। वास्तव में बात सच है, ब्रह्म तो व्यापक है। भला, यह विश्व में क्यों न रहेगा ? अवश्य ही रहेगा। वही विश्व में विचरता है। बस, विश्वावच्छिन्न जो ब्रह्म है उसे ही हम 'विश्वचर' कहेंगे। विश्व विश्वचर के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। विश्व शरीर है, विश्वचर शरीरी है। शरीर-शरीरी का अविनाभाव सम्बन्ध है। चूँकि विश्व, बिना उस विश्वचर के नहीं रहता, विश्वचर ही विश्व की आत्मा है; अतएव–**एतदात्म्यमिदं सर्वम्**[1] यह कहा जाता है। श्रुति प्रश्न करती है—

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस।
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तत्।
यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।"[2]

श्रुति पूछती है–यह सारा संसार जिस लकड़ी से काट कर बनाया गया है, वह कौन सा वृक्ष था ? एवं किस वन में वह वृक्ष उत्पन्न हुआ था ? हे बुद्धिमानो ! आप अपने मन से इसका उत्तर पूछिए। बतलाइए जिसने इस सारे विश्व को, चौदह भुवनों को, धारण कर रखा है एवं धारण करके, अचल भाव से खड़ा हुआ है, वह कौन है ? दयालु श्रुति उत्तर देती है—

"ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः। ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्"॥[3]

हे मनीषिणो ! जिस वन की लकड़ी से छील-छाल कर यह विश्व बनाया गया है, वह यही ब्रह्म है। ब्रह्म ही वन है, ब्रह्म ही वृक्ष है। उसी से यह विश्व बना है, वही बना कर इसे धारण किए हुए है। वही इस परमाकाश का अध्यक्ष है। पूर्वोक्त श्रुति विश्व-विश्वचर दोनों का प्रतिपादन करती

---

१ छा०उप० ६।६।४।

२ ऋग्वेद मं० १०।८१।४ एवं तै०ब्रा० २।८।६।६।

३ तै०ब्रा० २।८।६।६ व ७।

है। तीसरा है–'विश्वातीत'। विश्व से बाहर क्या है ? जो ब्रह्म है–वही विश्वातीत कहलाता है। विश्व में आया हुआ जो ब्रह्म है, जिसे कि विश्वचर कहा है, वह तो चूँकि परिच्छिन्न हो जाता है अतएव उस का ज्ञान हो जाता है। जैसे विश्व ज्ञेय है, तथैव विश्वचर भी ज्ञेय ही है, परन्तु विश्वातीत सर्वथा अविज्ञेय है। चूँकि वह विश्वातीत, असीम है–अपरिच्छिन्न है एवं हम (ज्ञाता) परिच्छिन्न हैं, अतएव वहाँ तक हमारी दौड़ नहीं हो सकती। शब्दसृष्टि का भी वहाँ वश नहीं चलता। वह विश्वातीत सर्वथा अविज्ञेय ही है। इस विज्ञान को दृढ़ता से समझाने के लिए श्रुति कहा करती है–कि भाई, जो इस महत् विश्व का अध्यक्ष है, परमाकाश में व्याप्त विश्वचर ब्रह्म है, वह भी उसे जानता है या नहीं, इसमें सन्देह ही है। भला, जो परमाकाशस्वरूप विश्वाध्यक्ष के लिए भी अविज्ञेय है, वह हमारे लिए क्यों कर ज्ञेय हो सकता है ? इसी अज्ञेयता को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् ।
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय ।
अथा को वेद यत आ बभूव" ।।[1]

"इयं विसृष्टिर्यत आबभूव । यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" ।।[2]

इसी विश्वातीत का स्वरूप तटस्थ लक्षणेन बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।
प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्" ।।[3]

बस, यही उस ब्रह्म का तीसरा स्वरूप है। इसी का नाम विश्वातीत है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म के विश्वातीत-विश्वचर-विश्व, ये तीन भाव हो

---

१ तै० ब्रा० २।८।६।५। २ तै० ब्रा० २।८।६।६। ३ केन उप० २।३–४।

जाते हैं। इन्हीं तीनों को प्रविविक्त-प्रविष्ट-सृष्ट शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। यही तीनों अनुपाख्य-अनिरुक्त-निरुक्त कृष्ण हैं। इन तीनों में विश्वातीत (अनुपाख्य—प्रविविक्त) तो असीमतया सर्वथा अविज्ञेय है। शास्त्रानधिकृत है, उसके विषय में हमें कुछ नहीं कहना। कहना है, विश्व-विश्वचर के विषय में। दोनों ही परिच्छिन्न हैं अतएव दोनों ज्ञेय हैं। श्रुतियों में जो बार-बार विजिज्ञास्य- विजिज्ञास्य कहा जाता है, उससे यह विश्वचर ही अभिप्रेत है। यह विश्वचर विश्व में स्थिररूप से विश्व का संचालन कर रहा है। विश्वचर के द्वारा ही विश्व-संचालन हो रहा है। यह विश्वचर किं-स्वरूप है, यदि कोई यह प्रश्न करे तो इसका एकमात्र उत्तर है— मायावच्छिन्न रस-बल-समष्टि। बल और रस ये दो तत्त्व रहते हैं, जिनका कि विशद-विवेचन सत्य-कृष्ण-रहस्य में कर दिया गया है। रस भी नित्य है—बल भी नित्य है। रस और बल शब्द का प्रयोग जरा कम आता है एवं अमृत-मृत्यु का प्रयोग (वेद में) अधिक आता है। यह अमृत और मृत्यु दोनों ही अनन्त हैं—अनादि हैं—असीम हैं। इस सर्वबलविशिष्ट रस का नाम 'परात्पर' रख दिया गया है। अमृत से जब मृत्यु उद्बुद्ध किन्तु सहचर-भाव से रहती है। ऐसी अवस्था का जो सर्वबलविशिष्ट रस है—वही 'परात्पर' कहलाता है। बल ही रस का लक्षण है। जब बल सर्वथा सुप्त हो जाता है, तो वहाँ बल और रस अर्थात्—अमृत और मृत्यु दोनों का द्वैतभाव गायब हो जाता है। बस, इसी अवस्था का नाम 'निर्विशेष' रखा जाता है। सर्वबल-शून्य अतएव अनुपाख्य जो रस है, अमृत है, वही निर्विशेष है। वही हमारा प्रविविक्त-विश्वातीत ब्रह्म है। इसी का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नाऽऽस॥

तम आसीत् तमसा-गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तमसस्तन्महिना जायतैकम्"॥[१]

---

१ ऋग्वेद १०।१२९।२ व ३ एवं तै०ब्रा० २।८।९।४।

यह निर्विशेष रस विश्व में प्रविष्ट नहीं होता, विश्व में तो 'परात्पर' ही प्रविष्ट होता है। शुद्ध रस विश्व के बाहर की वस्तु है। बिना बल के रस बेकार है अतएव इस विश्वचर को हम 'परात्पर' का–सर्वबलविशिष्ट रस का–अवतार कहेंगे। वह परात्पर ही परिच्छिन्न विश्वपुर में घुस कर, पुर-सम्बन्ध से 'पुरुष' कहलाने लगता है। यह पुरुष वास्तव में परात्पर का ही अंश है अतएव सोलह कलाओं में इसकी भी गणना कर ली जाती है। यह पुरुष, महा और अन्तर्भेदेन दो प्रकार से अपनी स्थिति कायम करता है। एक ही पुरुष महापुरुष और अन्तःपुरुष इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। उस महापुरुष की जो ज्ञान-रश्मियाँ हैं, वे विश्व-सृष्टि में रहने वाले पारमेष्ठ्य ब्राह्मणस्पत्य महान् सोम पर प्रतिबिम्बित हो कर नाना स्वरूप धारण कर लेती हैं। बस, यही प्रतिबिम्ब जिन्हें कि वेदान्त-परिभाषा में 'चिदाभास' कहा जाता है, अन्तःपुरुष कहलाते हैं। उदाहरणार्थ–सूर्य्य को ही लीजिए। सूर्य्य-बिम्ब महापुरुष है। इसके सोलर सिस्टम के अन्दर पानी पर प्रतिबिम्बित अनन्त सूर्य्य रहते हैं। ये अनन्त, वही तो हैं। वही महासूर्य्य अनन्त सूर्य्य बना हुआ है। उस एक के पेट (उदर, गर्भ) में नाना भाव नृत्य कर रहे हैं। वह महासूर्य्य एक है, वही सारे सोलर-सिस्टम का अधिष्ठाता है। सोलर-सिस्टम से अवच्छिन्न जो सूर्य्य है, वही महा सूर्य्य है। ठीक, उसी प्रकार इस विश्व का जो आत्मा है वह महापुरुष है एवं विश्व में प्रतिबिम्बित जो चिदा-भास है, वह अन्तःपुरुष है। ये अनेक हैं–वह एक है, परन्तु ध्यान रहे कि प्रतिबिम्ब और सूर्य्य अलग मालूम होते हुए भी जैसे अभिन्न हैं, ठीक, इसी प्रकार यह नाना अन्तःपुरुष भिन्न प्रतीत होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं है। वह एक ही, नाना-भाव में परिणत हो रहा है। इन अन्तःपुरुषों का महापुरुषों के साथ दहरोत्तर सम्बन्ध समझना चाहिए। महापुरुष उत्तर हैं एवं अन्तःपुरुष दहरस्वरूप हैं। परन्तु हम अपने शरीर के कीड़ों (जीवाणुओं) की अपेक्षा उत्तर बन जाते हैं, कीड़े (जीवाणु) दहर बन जाते हैं। इस प्रकार अपेक्षा से ही सब दहरोत्तर बन जाते हैं। इनमें जो अन्तिम उत्तर है, जो कि किसी का दहर नहीं है तथा जो कभी भी दहर नहीं हो सकता है, उसे ही हम 'विश्वचर' ईश्वर कहेंगे। उस उत्तर के पेट (उदर, गर्भ) में अन्तः-पुरुषस्वरूप अनन्त दहर रहते हैं। ये दहर 'प्रतिमा-जीव-उपस्कर' भेदेन तीन

ही प्रकार के हैं। प्रतिमा और उपस्कर को जड़ समझ कर उनका विचार छोड़ते हैं, केवल जीव-दहर का ही विचार करते हैं। प्रकृत में हम इस महा-पुरुष को एवं अन्तःपुरुष को अभिव्यक्तित्वेन 'प्रजापति' कहने के लिए तय्यार हैं। संसार में जो पदार्थ अभिव्यक्त हो रहे हैं, उन्हें ही व्यक्ति कहते हैं। अभिव्यक्ति का नाम ही व्यक्ति है। ये व्यक्तियाँ अनन्त हैं। यदि एक ही पुरुष होता तो व्यक्ति का जन्म ही न होता। जिसे हम अभिव्यक्ति कहते हैं, उसके पार्थक्य की नाना-भाव की अपेक्षा से ही सत्ता रहती है। नाना से ही व्यक्ति होती है, अतएव **व्यक्तिस्तु पृथगात्मता**–यह कहा जाता है। **इदमन्यथाव्यज्ज्यते-इदमन्यथा व्यज्ज्यते-पृथक्त्वेन व्यज्ज्यते**–यही तो व्यक्ति का स्वरूप है। बस, जिसकी यह अभिव्यक्ति हो रही है, जो आँखों से दिखलाई पड़ रहा है, उस सब को, सारी व्यक्तियों को, हम प्रजापति कहने के लिए तय्यार हैं। श्रुति कहती है–**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**[१]–तुम जो कुछ देख रहे हो, सब चार-चार हैं। प्रत्येक व्यक्ति में चार-चार संस्थाएँ हैं। यही इस श्रुति का तात्पर्य है—

'इयमेकैकाभिव्यक्तिर्यस्याभिव्यक्तिः स च प्रजापतिः स च चतुःसंस्थः'।

चारों संस्थाओं के–'१–आत्मा २–पदम् ३–पुनः पदम् ४-कात्स्न्र्यम्'–ये नाम रख दिए जाते हैं। इन चारों संस्थाओं से प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्रजापति चतुःसंस्थ होता है। एक तिल में भी ये चारों हैं। एक पहाड़ में भी ये चारों हैं। **चतुष्टयं वा इदं सर्वम्** यह अटल सिद्धान्त है। किसी भी वस्तु को हाथ में उठाओ और उसका स्वरूप देखने लगो, आपको उसमें ये ही चार संस्थाएँ मिलेंगी। ये चारों संस्थाएँ दो-दो अवस्थाओं में परिणत रहती हैं। आत्मसंस्था के–षोडशी और यज्ञ–ये दो स्वरूप हैं, पदसंस्था की प्रथमज और शारीर ये दो संस्थाएँ रहती हैं। पुनःपदसंस्था की द्रविण और उपग्रह (अक्षिति) ये दो संस्थाएँ हैं। कात्स्न्र्यसंस्था की आत्मा और काम्य, ये दो संस्थाएँ होती हैं—

---

१ कौ० २।१।

१–आत्मसंस्था	षोडशी आत्मा–यज्ञात्मा भेदेन द्विविधा–	आत्मा
२–पदसंस्था	प्रथमज–शारीर भेदेन द्विविधा–	पदम्
३–पुन:पदसंस्था	द्रविणोपग्रह भेदेन द्विविधा–	पुन:पदम्
४–कात्स्न्र्यसंस्था	आत्म–काम्य भेदेन द्विविधा–	कात्स्न्र्यम् ।

अव्यय-अक्षर-क्षर-परात्पर की जो समष्टि है, उसे ही हमने षोडशी आत्मा कहा है। सबका आलम्बन यही षोडशी आत्मा है। इस आलम्बन पर यज्ञात्मा रहता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रजापति में चाहे वह जड़ हो या चेतन हो, ये दोनों आत्मा रहते हैं। इनमें से जो षोडशी आत्मा है, वह सर्वथा असंग है—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।"[1]

ये इसी षोडशी आत्मा के लिए कहे जाते हैं। **यत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति** यह इसी के लिए कहा जाता है। **ब्रह्म-क्षत्र-विड्** वीर्यादि का इस षोडशी आत्मा से सम्बन्ध नहीं रहता है। वह तो एकरस रहता है। आसञ्जन होता है यज्ञात्मा पर। यज्ञात्मा की ही मृत्यु होती है। इसी की लोकान्तर में गति होती है। जिसके लिए–**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहेभृतां वर**[2] यह कहा जाता है–वही 'यज्ञात्मा' है। इसी पर दोषाधान होता है, इसी का सस्कार किया जाता है। इस यज्ञात्मा का स्वरूप कैसा है? एकमात्र यह प्रश्न बच जाता है। इसका उत्तर यद्यपि हम 'यज्ञकृष्ण-रहस्य' में दे आए हैं तथापि प्रसङ्ग-वशात् सूक्ष्मरूपेण यहाँ भी उसका स्वरूप बता देना अनुचित न होगा—

अव्यय-अक्षर-क्षर और परात्पर, इनकी समष्टि का नाम ही **षोडशी** आत्मा है। इसमें जो क्षर है, वह आत्म-विकार-यज्ञ भेदेन तीन प्रकार का है। इन तीनों में जो आत्मक्षर है, उसकी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ये पाँच कलाएँ हैं। इस पञ्चकलोपेत आत्मक्षर से सर्वप्रथम प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-

---

१ गीता २।२३ एवं ३०। २ गीता ८।४।

अन्न ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इन्हीं पाँचों को विश्वसृट् कहा जाता है। ये पाँचों उत्पन्न होते ही–पाँचों में आहुत हो जाते हैं। एक क्षण मात्र भी ये विकाररूप में नहीं रह सकते। पाँचों का पञ्चीकरण हो जाता है। बस, इस सर्वहुत यज्ञ से उत्पन्न पञ्चीकृत जो प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न है, यही 'यज्ञक्षर' कहलाते हैं। इन्हीं पाँचों यज्ञक्षरों का जो उस षोडशकल षोडशी-आत्मा पर चुनाव होता है, इसी को यज्ञात्मा कहते हैं। इन यज्ञक्षरों में, प्रत्येक में पाँचों हैं। सब में सब हैं, अतएव इन्हें **सर्वम्** भी कहा जाता है। प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न ये पाँचों यज्ञक्षर सर्वहुत होने के कारण सर्व कहलाते हैं। सब में सब हैं अतएव इन्हें 'सर्वम्' कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"आपो वा इदं सर्वम्[1]। प्राणो वा इदं सर्वम्[2]। वाग्वा इदं सर्वम्[3]। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च"।[4]

यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥[5]

इस श्रुति का अर्थ करते हुए हमने पूर्व-प्रकरण में बतलाया है कि **तस्मादेतद् ब्रह्म** से आत्मक्षर ही अभिप्रेत है। आत्मक्षर से ही ब्रह्म (प्रतिष्ठा) नामरूप (ज्योति) और अन्न (यज्ञ) उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ये इस आत्मक्षर की पाँच कलाएँ हैं। पाँचों में से ब्रह्मा से प्रतिष्ठा होती है, विष्णु से यज्ञ होता है, इन्द्र से 'रूप' होता है। अग्नि-सोम से बीज दैवतभूतस्वरूप कारण-सूक्ष्म-स्थूल शरीर होता है।[6] परन्तु इस पूर्व के यज्ञ-प्रकरण में यज्ञात्मा को पहला स्थान दिया गया है। यज्ञ से ही–यज्ञात्मा से ही–जो कि सर्वम्-स्वरूप है, प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न एतत् पञ्चकलोपेत है–प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ का उत्पन्न होना सिद्ध होता है। इसमें कोई भी विरोध

---

१ शत०ब्रा० ११।१।६।१६। २ शत०ब्रा० ११।१।६।१७।
३ शत०ब्रा० ११।१।६।१८। ४ शत०ब्रा० ११।१।६।१९।
५ मुण्डक उप० १।९। ६ द्रष्टव्य पृष्ठ सं० २४।

नहीं समझना चाहिए। आत्मक्षर से प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ उत्पन्न होते हैं एवं यज्ञक्षर से प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ उत्पन्न होते हैं, इसमें कोई भी विरोध नहीं है। यद्यपि प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ उत्पन्न होते हैं–यज्ञक्षर से ही, यज्ञात्मा से ही, परन्तु इन यज्ञक्षरों का आलम्बन चूंकि आत्मक्षर है, बिना आत्मक्षर के यज्ञक्षर एक क्षण भी नहीं रह सकता अतएव 'आत्मक्षर' से 'प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ' उत्पन्न होते हैं–यह कह देने में कोई हर्ज (आपत्ति) नहीं है। यज्ञक्षर में जो प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्नस्वरूप पाँच सर्वम् हैं, वे असल में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र अग्नि-सोमस्वरूप आत्मक्षर के ही तो विकार हैं। मिट्टी का विकार घड़ा है। उस घड़े को हम जैसे मिट्टी भी कह सकते हैं; व्यवहारदशा में न सही परमार्थदशा में तो अवश्य ही मिट्टी कह सकते हैं; तथैव ब्रह्मादि के विकार-स्वरूप पञ्चीकृत प्राणादि को भी हम 'ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम' कह सकते हैं। बस, इसीलिए हमने पूर्व के (२४वें पृष्ठ के) प्रकरण में ब्रह्मा-विष्णु आदि से प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ का जन्म बतला दिया है। वस्तुतः इस यज्ञक्षर से ही–यज्ञात्मा से ही–प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ और बीज-दैवत-भूत की उत्पत्ति समझनी चाहिए। इन पाँचों की समष्टि से जो एक नया आत्मा उत्पन्न होता है; यज्ञक्षरों के उत्पन्न होने के कारण यज्ञात्मा कहलाता है। इसका आलम्बन वही 'षोडशीआत्मा' है। इस यज्ञात्मा के ऊपर प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ वाला यज्ञ अनवरत हुआ करता है। वे यज्ञ कुल पाँच ही प्रकार के हैं—

१–आदान, २–अर्पण, ३–उत्सर्ग, ४–भैषज्य, ५–विकास। इन पाँचों यज्ञों का स्वरूप सत्यकृष्ण-रहस्य में बतला दिया गया है। यहाँ पर हमें यही कहना है कि बन्धन, आसक्ति आदि का सम्बन्ध इसी यज्ञात्मा से होता है। षोडशी तो सदा अव्यक्त-अनासक्त है। गीता शास्त्र जिस आसक्ति को दूर करने का उपदेश करता है, वही इस यज्ञात्मा की आसक्ति है। षोडशी आत्मा विश्व के प्राणियों का एक है एवं यज्ञात्मा प्रत्येक का भिन्न-भिन्न है। षोडशी आत्मा इस वस्तु का प्रातिस्विक आत्मा नहीं है। यज्ञात्मा ही इस वस्तु का प्रातिस्विक आत्मा है। जो षोडशी आत्मा है वह घटाकाश-पटाकाशवत् परिच्छिन्न अतएव नानास्वरूप प्रतीत होता हुआ भी अखण्ड है। पशु-पक्षी-मिट्टी का ढेला-सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-जमीन-आसमान-परमेष्ठी सब में वह एक ही व्याप्त

हो रहा है। वह विश्व का आत्मा है, वह विश्वेश्वर है, न कि केवल एकेश्वर। इसी षोडशी आत्मा के लिए यह कहा जाता है—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" ॥[1]

यह इसी षोडशी आत्मा के लिए कहा जाता है जो कि परिच्छिन्न प्रतीत होता हुआ भी सर्वथा अपरिच्छिन्न है। व्यवहारतः भले ही षोडशी को भिन्न-भिन्न मान लिया जाए, किन्तु परमार्थतः षोडशी सर्वथा अभिन्न है। परन्तु यज्ञात्मा परमार्थतः भिन्न ही है। जिसकी यज्ञात्मा नष्ट हो जाए तो उसका उसी समय नाश हो जाएगा। किन्तु एक के, यज्ञात्मा के, नाश से सबके यज्ञात्माओं का विनाश नहीं होता। यदि षोडशी आत्मा विनष्ट हो जाए तो सभी विनष्ट हो जाएँ। बस, यही पहली आत्मसंस्था है, जिसमें षोडशी और यज्ञ ये दो आत्माएँ रहती हैं। आत्मा के अनन्तर है–पदसंस्था। इसके भी प्रथमज और शारीर दो भेद हैं। प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ ये तीनों प्रथमज हैं। बीज-दैवत-भूत तीनों शारीर हैं। इन छहों में प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र से सम्बन्ध रखते हैं, अतएव इनको अन्तरङ्ग वीर्य्य कहने के लिए तय्यार हैं। तीसरी है–पुनःपदसंस्था। द्रविण और अक्षिति, इन दो का नाम ही पुनःपद है। ब्रह्म-क्षत्र-विट् ये तीन द्रविण कहलाते हैं। तीनों आत्मा के बहिरङ्ग वीर्य्य कहलाते हैं। आत्मबल का नाम ब्रह्मवीर्य्य है। मनोबल का नाम, हृद्-बल का नाम क्षत्रवीर्य्य है। अन्नबल का नाम अर्थात् सम्पत्तिबल का नाम विड्वीर्य्य है। ब्रह्म-वीर्य्य का ब्रह्मा से सम्बन्ध है। क्षत्र-वीर्य्य का इन्द्र से सम्बन्ध है। विड्वीर्य्य का विष्णु से सम्बन्ध है। बीजाश्रित ब्रह्मवीर्य्य है, देवताश्रित क्षत्रवीर्य्य है एवं भूताश्रित विड्वीर्य्य है। अर्थात् कारणशरीर से ब्रह्मवीर्य्य की प्रतिष्ठा है, सूक्ष्म से क्षत्रवीर्य्य की प्रतिष्ठा है, स्थूल से विट्वीर्य्य की प्रतिष्ठा है। ये तो हुए द्रविण। ये ही आत्मा के अर्थात् यज्ञात्मा के वित्त कहलाते हैं। इन्हीं तीनों से यज्ञात्मा की स्वरूप-सत्ता रहती है। दूसरी है–अक्षिति। वेद-लोक-वाक् ये तीन अक्षितियाँ

---

१ गीता १८।६१।

हैं। तीनों में जो वाक् है–उसी से देवता, भूत और पशु अर्थात् ऋतु और छन्द उत्पन्न होते हैं। इसीलिए तो **अथोवागेवेदं सर्वम्**[1] यह कहा गया है। इस प्रकार वेद-लोक-वाक्-भूत-पशु-देवता भेदेन अक्षिति छह हो जाती हैं। वस्तुतः वेद-लोक-वाक् तीन ही हैं। महिमा-मण्डल में तीन ही साहस्री होती हैं, अतएव यह कहा जाता है—

"त्रेधासहस्रं वि तदैरयेथाम्।[2] किं तत् सहस्रमिति इमे वेदा-इमे लोका-अथोवाग् इति ब्रूयात्"।[3]

इस प्रकार पुनःपद में द्रविण और अक्षिति दो चीजें रहती हैं। शरीर से सम्बन्ध के कारण यह शरीर के महिमामण्डल की वस्तु है। इसमें ब्रह्म-क्षत्र-विट् ये तीनों अन्तरङ्ग महिमा हैं, अक्षिति बहिरङ्ग-महिमा है। इसी अक्षिति को उपग्रह कहते हैं। महिमा को ही 'उपग्रह' कहते हैं। महिमा को तो उपग्रह कहते हैं एवं गुण (प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ), शरीर (बीज-दैवत-भूतानि), द्रविण (ब्रह्म-क्षत्र-विट्), उपग्रह (अक्षिति) को 'परिग्रह' कहते हैं।

चौथी है–कात्स्र्न्यसंस्था। मन-प्राण-वाक्-चक्षु-श्रोत्र, ये आत्मकात्स्र्न्य हैं एवं जाया-प्रजा-वित्त-लौकिककर्म्म और स्वर्गीयकर्म्म ये काम्यकात्स्र्न्य हैं। आत्मकात्स्र्न्य अन्तरङ्ग है। काम्यकात्स्र्न्य बहिरङ्ग है। इन सबका आलम्बन वही यज्ञात्मा है। इसी के लिए **यावद् वित्तं तावदात्मा**–कहा जाता है। यह यज्ञात्मा **यावद् वित्तं तावदात्मा** के अनुसार अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार इन सारे परिग्रहों का तो आलम्बन यज्ञात्मा है एवं सपरिग्रह यज्ञात्मा का आलम्बन वह विशुद्ध षोडशी आत्मा है। इसमें भी यदि सूक्ष्म विचार किया जाए तो यज्ञात्मा का आलम्बन आत्मक्षर है। उसका आलम्बन अक्षर है। अक्षर का आलम्बन पञ्चकल अव्यय है। पञ्चकल का आलम्बन शुद्ध अव्यय मन है, जो कि श्वोवसीयस कहलाता है। इसी आलम्बन के लिए कहा जाता है—

---

१ नृसिंह उत्तर उप० ८

२ ऋग्वेद मं० ६।६९।८। ३ ऐत०ब्रा०अ० २८।७।

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्"।[१]

यज्ञात्मा सहित सपरिग्रह जो आत्मा है अर्थात् चतुसंस्थआत्मा है, उसे ही हम प्रजापति कहेंगे। यह प्रजापति 'ईश्वर और जीव' भेदेन दो प्रकार का है। इनमें से पहले ईश्वर-प्रजापति का स्वरूप बतलाया जाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"इयमेकैकाभिव्यक्तिर्यस्याभिव्यक्तिः सः प्रजापतिः । प्रति-व्यक्तिभिन्नः प्रजापतिः । सगुणः । स शारीरः । स द्रविणः—सोपग्रहः-स कात्स्न्र्यः सत्यः प्रजापतिः । तत्र षोडशकलोपेनात्मा सत्यः । प्रतिष्ठा-ज्योतिर्यज्ञ आत्मगुणः । तान्यन्तरङ्ग वीर्य्याणि ॥१॥ बीज-दैवत-भूतानि-शारीराणि ॥२॥ वित्तानि द्रविणानि । ब्रह्म-क्षत्र-विट् इति बहिरङ्गानि वीर्य्याणि द्रविणानि । आत्मबलं ब्रह्मवीर्य्यम् । मनोबलं क्षत्रवीर्य्यम् । अन्नबलं विड्वीर्य्यम् । बीजाश्रितम् ब्रह्म । दैवाश्रितं क्षत्रम् । भूताश्रिता विट् । एतान्येव वित्तानि ॥३॥ वेदा-लोका वा अस्येति त्रीणि साहस्राण्युपग्रहाः । महिमान उपग्रहाः ॥४॥ यावद् वित्तं तावदात्मा स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठितः । गुण, शरीर, द्रविणो-पग्रहाः परिग्रहाः । एषामालम्बनं विशुद्ध (षोडशी) आत्मा : स परिग्रहस्त्वात्मा प्रजापतिः । प्रजापतिर्द्विविधः ईश्वरो जीवश्चेति" ।

॥ तत्रेश्वरस्तावद् व्याख्यायते ॥

यही सत्य आत्मा है । "षोडशी-यज्ञ-विशिष्ट को सत्यात्मा समझना चाहिए ।" ऋक्-साम-यजुः त्रयीवेद लक्षण ब्रह्म-प्रतिष्ठा से अर्थात् छन्दोवेद-स्वरूप ब्रह्म-प्रतिष्ठा से, नामरूप-लक्षण ज्योति से, अन्न लक्षण यज्ञ से, विश्व को अपना शरीर बना कर वेदमय (रस विज्ञान वेदमय जो कि महिमा में रहता है) लोकमय बन कर ईश्वर कहलाने लगता है। विश्वस्वरूप महत्

---

१ कठ उप० २।१७। 'योयदिच्छति तस्य तत्' पाठभेद है 'ब्रह्मलोके महीयते' ।

शरीर का अधिष्ठाता, जो विश्वव्यापी षोडशीसत्त्व आत्मा है–उसे अलग समझिए। इस सत्य षोडशी आत्मा का और विकार यज्ञक्षरस्वरूप विश्व का जो ऐक्य भाव है, उसी विश्व-विशिष्ट आत्मा को प्रकृत में ईश्वर पद वाच्य समझना चाहिए अर्थात् विश्वविशिष्ट आत्मा का नाम 'ईश्वर' है, न कि केवल आत्मा का। विशिष्ट को ही ईश्वर कहते हैं। बस, यहाँ से आगे हम इसी ईश्वर का स्वरूप बतलाएँगे—

"सत्य एवाययात्मा त्रयी लक्षण (छन्दोवेद), ब्रह्मणः (वेद प्रतिष्ठया) नामरूप लक्षणा ज्योतिषा – अन्नलक्षण यज्ञेन च कृत रूपो विश्व शरीरो वेदमयो (वितान वेदमयो) लोकमयः सन्नीश्वर इत्युच्यते। विश्वशरीराधिष्ठाता विश्वव्यापी सत्य आत्मा। सोऽतिरिच्यते। अथैतस्मिन्नात्मनि पञ्चयज्ञक्षर विकार जातमेवेदं विश्वम्। तच्चारिच्यते। अथैताभ्यायुभयाभ्यां यदैकभाव्यं। सोऽयं विश्वविशिष्टः परमात्माऽयमीश्वरः। तमितः परमत्र व्याख्यास्यामः"।

गीता-विज्ञान-भाष्य के प्रारम्भ से अब तक 'प्रजापति' की ही गाथा सुनते आ रहे हैं। जहाँ देखो वहाँ ही, जब देखो तब उसी प्रजापति की महिमा का वर्णन है। कहीं स्वयम्भू को प्रजापति बतलाया जाता है तो कहीं परमेष्ठी को प्रजापति बतलाया जाता है। कहीं चन्द्रमा को **ब्रह्माऽकृष्णश्च नोऽस्तु**[1] कहा जाता है तो कहीं 'संवत्सरः प्रजापतिः' कहलाता है। यह तो हुई महापिण्डों की कथा। श्रुति तो इससे आगे तक भी दौड़ लगाती है। उसका कहना है कि जो कुछ तुम देख रहे हो, जितने भी पदार्थ व्यक्त हो रहे हैं, वे सब प्रजापति हैं, अनन्त प्रजापति हैं। **यद्वै किंच प्राणि स प्रजापतिः**[2]–यही इस श्रुति का घण्टाघोष है। हमने पूर्व के प्रकरणों में इन्हीं श्रुति-वाक्यों का अनुसरण कर, जहाँ जिसकी इच्छा हुई, वहाँ उसी की गाथा गा डाली, परन्तु इससे हुआ क्या? गीता-विज्ञानभाष्य-भूमिका में बड़ी लम्बी-चौड़ी डींग हाँकते हुए कहा था कि आज तक गीता का अर्थ किसी ने नहीं समझा है। गीता उपनिषत् है। वेद के आधार पर गीता रहस्य अवलम्बित है, अतएव जब तक वैदिक परि-

---

१ शत०ब्रा० १३।२।७।७। २ शत०ब्रा० ११।१।६।१७।

भाषाओं के संग्रहस्वरूप 'ब्रह्मसमन्वय' को न पढ़ लिया जाए, जब तक प्रजापति-अव्यय-अक्षर-क्षर-परात्पर-महान् इत्यादि का स्वरूप न समझ लिया जाए, तब तक गीता जानना कठिन ही नहीं, असंभव है। प्रजापति का स्वरूप समझ में आना चाहिए था, परन्तु देखते हैं कि पदों का अर्थ खुलने के बजाय और जटिल होते जाते हैं। अब तक एक प्रजापति ही दुःख देता था, उसी को समझना कठिन था। अब तो अनन्त प्रजापति हो गए। रोग ज्यादा ही बढ़ गया। बस, इसी रोग को मिटाने के लिए आज हम प्रजापति-परिचय स्वरूप औषधि-प्रयोग कर रोग का समूल विनाश करते हैं—

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, ये सात लोक अति प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रायः इन सातों नामों से परिचित है। नाम किसी वस्तु का हुआ करता है। बस, जिसके ये सात नाम हैं, उसे ही प्रजापति समझिए। यही प्रजापति का सीधा-सा स्वरूप है। प्रजापति को ढूंढने के लिए कहीं अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह आपके बहुत नजदीक बैठा हुआ है। उसी प्रजापति पर आप चलते-फिरते हैं। वही आपके ऊपर है, वही दोनों पार्श्वों में है, वही प्रजापति आपके हृदय में है, वही सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त हो रहा है। जहाँ देखो, वहीं प्रजापति का राज्य है। सत्यलोक से ले कर इस भूलोक तक वह प्रजापति अचलरूप से खड़ा है। सत्यलोक सहित उस प्रजापति के स्वरूप पर दृष्टि डालो तो वह महान् से महान् है। यदि एक परम विशेष पर दृष्टि डालो तो वह अणु से भी अणु है। वह प्रजापति सातों लोकों में व्याप्त होता हुआ बिल्कुल स्थिर भाव से वृक्षवत् खड़ा हुआ है। इसी प्रजापति का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"।[1]

जिस प्रकार हमारे शरीर के अवयवों के माथा-धड़-पैर-हाथ इत्यादि अलग-अलग नाम हैं, उसी प्रकार उस महाप्रजापति के, महा शरीर के, शरीरा-

---

१ तै०आ० १०।१०।२० एवं महानारायण उप० १०।४।

वयवों के भू:, भुव:, स्व:, मह:, जन:, तप:, सत्यम् ये सात नाम हैं। संस्कृत भाषा में जिसे **नाम** कहते हैं, वैदिक भाषा में उसे ही **व्याहृति** कहते हैं। जिससे उसको पुकारा जाए उसी को 'व्याहृति' कहते हैं। चूँकि भू: भुव: इत्यादि सातों उस प्रजापति के नाम हैं अतएव इन्हें 'व्याहृति' कहा जाता है। ये सातों उस प्रजापति की 'व्याहृतियाँ' हैं, अर्थात् प्रजापति शरीर के जो अवयव हैं, उनके यही सात नाम हैं। भूर्लोक प्रजापति के पैरों का नाम है। जन:लोक धड़ का नाम है, सत्य-लोक मस्तक का नाम है, अन्य नाम बीच के अवयवों में बँटे हुए हैं अथवा इन नामों का दूसरा कारण समझना चाहिए। प्रजापति को 'पुरुष' कहा जाता है। इस पुरुषप्रजापति के साथ अक्षर और क्षर ये दो पुरुष और रहते हैं। यद्यपि अक्षर और क्षर, पुरुषप्रजापति की परा-अपरा प्रकृतियाँ हैं तथापि चूँकि ये दोनों ही पुरुष के बिना एक क्षण भी नहीं रहतीं अतएव इन्हें भी पुरुष कहा जाता है। बस, प्रकृतिविशिष्ट जो पुरुष है, जिसे कि भगवान् ने **उत्तम** पुरुष कहा है, अव्यय पुरुष कहा है–उसे ही हम प्रजापति कहते हैं। **प्रकृति विशिष्टः पुरुषः प्रजापतिः**' हमारे प्रजापति का यही लक्षण है। इन्हीं तीनों का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" ।।[1]

प्रकृतिविशिष्ट इसी अव्ययेश्वर की भू:, भुव:, इत्यादि सात व्याहृतियाँ हैं। यह अव्यय पुरुष अपने पाँच अवयव रखता है। वे पाँचों ही 'आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, इन नामों से व्यवहृत होते हैं। इन पाँच कोषों के अन्दर प्रजापति रहता है। इन पाँचों का स्वरूप पूर्व के प्रकरणों में, विशेषत: सत्यकृष्ण-रहस्य में सुविशदरूपेण बतला दिया गया है। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् में से आनन्द-विज्ञान ज्ञानस्वरूप एवं प्राण-वाक् कर्मस्वरूप हैं। मन दोनों के बीच में रहता हुआ

---

१ गीता १५।१६–१७।

ज्ञान की ओर भी जाता है एवं कर्म्म की ओर भी जाता है। अतएव उभयात्मकं मनः यह कहा जाता है। इनमें आनन्द-विज्ञान मुक्तिसाक्षी है। जितने ही विज्ञान की ओर बढ़ोगे उतना ही आनन्द मिलेगा। आनन्द ही तो उस प्रजापति का स्वरूप है। ज्ञान में आनन्द है। जिसमें ज्ञान मात्रा जितनी अधिक होती है, वह उतना ही अधिक दुःख समुद्र से बाहर रहता है। आनन्द की ही करामात है, अतएव कहा जाता है—

"आनन्दाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रवृत्त्यभि संविशन्ति"।

सारे विश्व की आनन्द ही प्रतिष्ठा है, आनन्द ही प्रभव है, आनन्द ही परायण है—यही श्रुति का तात्पर्य्य है। जग में जिस मनुष्य में आनन्द की मात्रा जितनी अधिक होती है, जो जितना ज्यादा खुश रहता है, वह उतने ही अधिक दिन जीता रहता है एवं जो जितना अधिक दुःखी रहता है, समझ लो वह अतिशीघ्र ही जीवन-लीला समाप्त कर देता है। आनन्द ही तो विश्व की प्रतिष्ठा है। ये आनन्द-विज्ञान दोनों ज्ञानस्वरूप हैं। ज्ञान नित्य है अतएव हम इसे **अमृत** कहने के लिए तय्यार हैं। उधर प्राण-वाक् दोनों ही सृष्टिसाक्षी हैं। जैसे विज्ञान-आनन्द की ओर जाने से आत्मबन्धन टूटता है, आत्मा पर से आवरण हटता है, प्राण-वाक् की ओर जाने से ठीक इसके विरुद्ध आत्मा पर आवरण आ जाता है। प्राण-वाक् कर्म्मस्वरूप हैं अतएव हम इसे **मृत्यु** कहने के लिए तय्यार हैं। सारी सृष्टियाँ, इस प्राण-वाक् से होती हैं। मन दोनों में रहता है अतएव आनन्द-विज्ञान-मन, मन-प्राण-वाक् ये दो सीगे (विभाग) हो जाते हैं। नई वस्तु जब भी उत्पन्न होती है तो इसी मन-प्राण-वाक् की समष्टि से होती है। जब हम कोई नई वस्तु बनाना चाहते हैं तो सबसे पहले उसकी इच्छा होती है। बिना इच्छा के किसी वस्तु के बनाने में प्रवृत्ति ही नहीं होती है। बस, इस इच्छा का जनक वही मन है। मन से ही इच्छा उठती है। इच्छा के होते ही तदनुकूल व्यापार होने लगता है। वह व्यापार अन्तः-बहिर्भेदेन दो प्रकार का है। प्राणव्यापार का नाम अन्तःव्यापार है। वाग्-व्यापार का नाम बहिर्व्यापार है। इच्छा के पैदा होते ही भीतर ही भीतर एक व्यापार होता है जिसे कि कोशिश (प्रयत्न) कहा करते हैं। इसी को

दार्शनिक लोग 'कृति' कहा करते हैं एवं वैदिक महर्षि इसी प्राणव्यापार को 'तप' कहा करते हैं। बस, कोशिश होते ही सामने रखी हुई मिट्टी पर वाक् का अर्थात् हाथ-पैर का व्यापार होने लगता है, इसी को 'श्रम' कहते हैं। इस श्रम से उसी समय घड़ा तय्यार हो जाता है। इस प्रकार इच्छा-तप-श्रम से नई वस्तु उत्पन्न हो जाती है। यदि तीनों में एक भी नहीं है तो नई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। हो कैसे ? सृष्टिसाक्षी तो ये तीनों हैं। मन इच्छा का जनक है, प्राण तप का जनक है एवं तप ही वाक्-श्रम का जनक है। प्रकार मन-प्राण-वाक् तीनों से सृष्टि होती है। परन्तु आनन्द-विज्ञान मन-स्वरूप बाकी बचा हुआ जो ज्ञान भाग है, वह इसमें सहकारी अवश्य ही रहता है। बिना ज्ञान के इच्छादि कर्म्म, दो कौड़ी की वस्तु है। इसीलिए यह कहा जाता है—

"ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥"

बिना ज्ञान के कर्म्म रह ही नहीं सकता। समझ के साथ जो काम किया जाता है, वही कर्म अच्छा होता है। यदि समझ नहीं तो कुछ नहीं। इसीलिए अभियुक्त लोग ज्ञान को इच्छा का जनक मानते हैं। ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा से तप अर्थात् प्राणव्यापार होता है। इससे श्रम अर्थात् वाग्-व्यापार होता है। इतने प्रपञ्च के अनन्तर नई वस्तु उत्पन्न होती है। जैसा कि उदयनाचार्य कहते हैं—

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म्म, तदेतत् कृतमुच्यते॥"

संसार कर्म्ममय है, इसका अर्थ इतना सा ही है कि कर्म्मभाग-प्रधान है, कर्म्म ही उल्वण है एवं ज्ञान सहकारी है। सृष्टि में आनन्द, विज्ञान, मन, सहकारी रहते हैं एवं मन-प्राण-वाक् प्रधान रहते हैं। इसी प्रकार ज्ञान-पक्ष में कर्म्म की सत्ता समझनी चाहिए। मुक्त जगत् ज्ञानमय है, इसका अर्थ यही है कि ज्ञानभाग प्रधान है और कर्म्मभाग सहकारी है। बिना कर्म्म के ज्ञानोत्पत्ति हो ही नहीं सकती, अतएव सन्यास योग का खण्डन करते हुए भगवान् कहते हैं—

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति" ।।[1]

वास्तव में बात सच है, ज्ञान-कर्म्म तो प्रजापति का शरीर है। ऐसी अवस्था में एक दूसरे से अलग क्यों कर रह सकते हैं? अस्तु, इस प्रपञ्च को हम अधिक नहीं बढ़ाना चाहते। हमें यहाँ इतना ही कहना है कि यह अव्यय-पुरुष आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् भेदेन पञ्चकल है। पाँचों में आनन्द-विज्ञान-मन मुक्तिसाक्षी है, ज्ञानस्वरूप है, नित्य है, अमृत है। मन-प्राण-वाक् सृष्टिसाक्षी है, कर्म्मस्वरूप है, मृत्यु है। इस प्रकार प्रजापति का आधा शरीर अमृत है, आधा मृत्यु है, अतएव श्रुति कहती है—**अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**।[2] हमें सृष्टि का स्वरूप बतलाना है अतएव मन-प्राण-वाङ्मय प्रजापति का ही विवेचन करेंगे। इस सृष्टिसाक्षी प्रजापति के अभि-प्राय से ही—**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**।[3] यह कहा जाता है। मन रूप का अधिष्ठाता है, प्राण कर्म्म का अधिष्ठाता है एवं वाक् नाम की जननी है। इसमें जो मन-प्राण-वाक् हैं वे भी एक प्रकार से अमृतस्वरूप ही हैं। नाम-रूप-कर्म्म ये तीनों ही मृत्यु हैं। इन छहों से ही सारे विश्व का निर्म्माण होता है अतएव विश्व को **षाट्कौशिक** बतलाया जाता है। मन-प्राण-वाक् में वाक् स्थूल है। यह वाक् प्राण के आधार पर रहती है। प्राण मन के आधार पर रहता है। हम जिन्हें आँखों से देखते हैं, वे सब वाक् हैं। स्थूल जगत् को, दृश्य जगत् को, ही वाक् कहते हैं। यह वाक् प्राण के आधार रहती है। यदि प्राण निकल जाते हैं तो उसी समय वाक्-सत्ता नष्ट हो जाती है। एक किवाड़ की जोड़ी बनवाएँ। जिस समय वह बन कर आएगी, उस समय इतनी मजबूत होगी कि यदि हाथ या हथोड़े से भी उसे तोड़ना चाहेंगे तो न टूटेगी। कारण यही है कि इस समय इसमें अतिमात्रा में प्राण भरा हुआ है। परन्तु उसी किवाड़ जोड़ी की पाँच सौ वर्ष बाद ऐसी स्थिति हो जाती है कि जहाँ से आप उसे उठाना चाहेंगे, वहीं से वह टूट जाएगी।

---

१ गीता ३।४। २ शत०ब्रा० १०।१।३।२।
३ बृहद आ० उप० १।५।३ एवं शत०ब्रा० १४।४।३।१०।

कारण इसका यही है कि वहाँ से वह प्राण निकल गया है, जिसके निकल जाने से वाक् का स्वरूप नष्ट हो जाता है—उसे ही हम 'प्राण' कहेंगे ।: विधरण करना इसी प्राण का काम है, अतएव प्राण को विधर्त्ता कहा जाता है। इस प्राण का भी आधार मन है एवं इस मन का भी आलम्बन आनन्द-विज्ञानमय स्वरूप ज्ञान है । मन-प्राण-वाक् तीनों अविनाभूत हैं। तीनों वस्तु भिन्न हैं परन्तु तीनों ही अविनाभूत हैं । जहाँ केवल वाक् कहा जाता हो वहाँ मन-प्राण का भी ग्रहण समझना चाहिए, जहाँ प्राण कहा जाता है वहाँ मन-वाक् का ग्रहण समझना चाहिए एवं जहाँ मन का ग्रहण हो वहाँ प्राण-वाक् का भी ग्रहण समझना चाहिए । ऐसा कहने का अर्थ यही है कि कहीं तो वाक् उल्वण रहती है अतएव वहाँ वाक् का ही प्रयोग कर दिया जाता है । कहीं प्राण उल्वण रहता है अतएव वहाँ केवल प्राण का ही नाम ले दिया जाता है । उदाहरणार्थ—सूर्य्य । सूर्य्य यद्यपि मन-प्राण-वाङ्मय है किन्तु इसका प्राण भाग उल्वण रहता है अतएव इनके लिए **प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**[1]—यही कहा जाता है । परन्तु ऐसे-ऐसे स्थलों में अनुक्त का भी ग्रहण कर लेना चाहिए चूँकि ये तीनों ही अविनाभूत हैं । हमने बतलाया है कि अमृत और मृत्यु दोनों साथ रहते हैं । न अमृत के अर्थात् ज्ञान के बिना मृत्यु अर्थात् कर्म्म रह सकता है । न कर्म्म के बिना ज्ञान रह सकता है । इसीलिए तो **अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत माहितम्**[2]-यह कहा जाता है । हमें प्रजापति के नामों का विवेचन करना है । नाम वाक् से सम्बन्ध रखते हैं अतएव वाक् के विषय में ही कुछ कहेंगे । बस, अमृत और मृत्यु दोनों अविनाभूत हैं, तो मानना पड़ता है कि इस वाक् में भी दोनों ही मौजूद हैं। बस, इस वाक् का जो अमृतभाग है—उसे अमृता वाक् कहते हैं एवं इसे ही दिव्या वाक् भी कहते हैं । मर्त्यभाग को मर्त्यावाक् कहते हैं । दिव्यावाक् से देवता उत्पन्न होते हैं, मर्त्यावाक् से भूत उत्पन्न होते हैं । इसी वाक् को आकाश भी कहा जाता हैं । चूँकि वाक् मर्त्य-अमृत भेदेन दो हैं अतएव आकाश भी दो ही हो जाते हैं । जो अमृताकाश है, उसी का नाम इन्द्र है—अतएव **वागिन्द्र** कहा जाता है । इसी अमृताकाश को, जो कि सारे विश्व में व्याप्त हो रहा है—आधुनिक साइण्टिस्ट **ईथर** शब्द

---

१ प्रश्न उप० १।८ । २ शत० ब्रा० १०।५।२।४ ।

से व्यवहृत करते हैं। इन्द्र का ही 'ईथर' बना हुआ है। ईथर से कोई भी स्थान खाली नहीं है अतएव **नेन्द्राहते पवते धाम किञ्चन**[1]–यह कहा जाता है। गति-विद्युत्-प्रज्ञा-सत्य-आत्मा-ज्योति-आयु-बल-रूप इत्यादि भेदेन इन्द्र चौदह प्रकार का है, जिसका कि विस्तृत विवेचन हमने प्रतिष्ठाकृष्ण-रहस्य में कर दिया है। इन चौदहों में एक इन्द्र का नाम 'श्वा' है। बस, इसी श्वा इन्द्र को वाक् कहते हैं। इस सारे विश्व में यही श्वा इन्द्र व्याप्त हो रहा है। सर्वत्र ईथर भरा हुआ है अतएव **शुने हितम्** इस व्युत्पत्ति से इस स्थान को 'शून्यम्' कहा जाता है। शून्य का अर्थ खाली नहीं है अपितु, सर्वत्र 'श्वा इन्द्र भरा हुआ है, शून्यम् का यही अर्थ है। इसी श्वा इन्द्र के लिए, अमृताकाश के लिए, दिव्या वाक् के लिए, श्रुति कहती है—

हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ" ।[2]

चूँकि इसी इन्द्र से सारे देवता उत्पन्न होते हैं अतएव श्रुति में बार-बार **इन्द्रः सर्वा देवताः इन्द्र श्रेष्ठा देवाः**[3] यह लिखा रहता है। दूसरा है—**'मर्त्याकाश'**। इसी को हमने मर्त्यावाक् बतलाया था। इसी मर्त्यावाक् से सारे भूत उत्पन्न होते हैं। यह मर्त्यावाक् चूँकि इस अमृतावाक् के आधार पर रहती है, अमृत ही मृत्यु की प्रतिष्ठा है अतएव इस मर्त्यावाक् को 'इन्द्र पत्नी' कहा जाता है। यद्यपि मर्त्यावाक् के आधार देवता हैं तथापि साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि बिना भूत के देवता भी नहीं रहते हैं। बिना भूत के अर्थात् मर्त्यावाक् के देवता नहीं रह सकते अतएव श्रुति कहती है—

"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे। वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः। वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता। सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी इति।"[3]

कहना हमें यही है इस सारे प्रपञ्च से कि मन-प्राण मिश्रितावाक् से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है। इस वाक् से **भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-**

---

१ ऋग्वेद मं० ६।६६।६। २ ऋग्वेद मं० ३।३०।२२।
३ शत०ब्रा० ३।४।२।२। ४ तै०ब्रा० २।८।८।४-५।

सत्यम् ये कुल सात लोक उत्पन्न होते हैं। इन सातों लोकों में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा और पृथिवी ये पाँच पिण्ड हैं। इन पिण्डों का निर्म्माण भूत से होता है। बिना भूत के पिण्ड नहीं बन सकता एवं बिना वाक् के भूत नहीं रह सकते। स्वयम्भू आदि पाँचों पिण्ड हैं, अतएव इन पाँचों में अवश्य ही मर्त्यावाक् की ही सत्ता माननी पड़ती है। इस मर्त्यभाव के कारण ही तो ये पाँचों पिण्ड 'क्षर' (यज्ञक्षर) कहलाते हैं। देवता निराकार हैं–प्राणस्वरूप हैं। इनसे संघटन नहीं होता। संघटन-शक्ति भूत में है एवं पिण्ड संघ का ही नाम है अतएव मानना पड़ता है कि पिण्ड-सृष्टि के उत्पादक यही भूत हैं। इन भूतों की जननी यही मर्त्यावाक् है–जिसे कि हमने मर्त्याकाश से भी व्यवहृत किया है। वाक् भूत की पहली अवस्था है। इस वाक् से वायु उत्पन्न होता है। यही वाक्, यही मर्त्याकाश यत् किञ्चिदवच्छेदेन बल ग्रन्थियों के कारण वायु बन जाता है। वायु यत् किञ्चिदवच्छेदेन अग्नि बन जाता है, अग्नि पानी बन जाता है, पानी मिट्टी बन जाता है। इस प्रकार वही आकाश सर्गक्रम से उत्तरोत्तर स्थूल होता हुआ मिट्टी बन जाता है। स्वयम्भू आदि पिण्ड में ये ही पाँचों वस्तुएँ रहती हैं। पाँच ही पिण्डों का ठेका नहीं है। अपितु, संसार में जितने भी पिण्ड पदार्थ हैं उन सबमें ये पाँचों पदार्थ मौजूद हैं। पिण्ड का केन्द्र भाग अति कठिन है, वही मिट्टी है। इसके चारों ओर पानी का स्तर रहता है। इसके चारों ओर अग्नि का स्तर रहता है। इसके चारों ओर वायु का स्तर रहता है। इसी वायु स्तर से आग्नेय पृथिवी पिण्ड की दशा रहती है अतएव इसे 'वराह भगवान्' कहा जाता है। इस वायु के ऊपर यह आकाश का स्तर रहता है। ये पाँचों स्तर एक तिल में भी हैं। एक पर्वत में भी हैं। सर्वत्र ये ही पाँचों मौजूद हैं अतएव **पाङ्क्तो वै यज्ञः**[1] यह कहा जाता है। प्राजापत्य पञ्चपुण्डीरा बलशा में–भूः-भुवः-आदि सात लोक रहते हैं एवं स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये पाँच पिण्ड रहते हैं। इन पाँचों में आकाशादि पाँचों रहते हैं। क्यों कि पाँचों पिण्ड हैं, पिण्ड बिना इस पञ्चीकरण प्रक्रिया के बन नहीं सकता है। इन पाँचों मण्डलों की वाक् का नाम भिन्न-भिन्न है। स्वयम्भूमण्डल की वाक् का नाम 'सत्यावाक्' है। इसे ही

---

१ ऐ०ब्रा० १।५।

वेदवाक् भी कहते हैं। इसी से स्वयम्भू पिण्ड के जल-तेज-वायु-पृथिवी का निर्म्माण होता है। परमेष्ठीमण्डल के वायु का नाम है—**आम्भृणी**। इससे पञ्चीकरण प्रक्रिया द्वारा परमेष्ठी पिण्ड का निर्म्माण होता है। सूर्य्या-वाक् का नाम है—**बृहती**। पृथिवी वाक् का नाम है **अनुष्टुप्**। इसी को गायत्री भी कहा जाता है, अतएव **या वै सा गायत्री आसीदियं वै सा पृथिवी**[1]—यह कहा जाता है। इसी सृष्टि-क्रम को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी"।[2]

प्रत्येक पिण्ड में पूर्वोक्त पाँचों भूत समझने चाहिए। सबसे पहले मन-प्राणयुक्ता यही सत्यवाक् थी। इसी से वायु-अग्नि-पानी मिट्टी इस क्रम से स्वयम्भू पिण्ड बना। इसी सत्यावाक् से उत्पन्न जो **आम्भृणी** आदि वाक् हैं उनसे परमेष्ठी आदि पिण्ड बने हैं। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जहाँ-जहाँ पर जो भाग उल्वण रहता है, उस पिण्ड का उसी के नाम से व्यवहार होता है। स्वयम्भू में वाक् भाग उल्वण रहता है अतएव उसे वाक् लोक कहा जाता है। परमेष्ठी में वायु का भाग उल्वण रहता है अतएव इसे 'वायुलोक' कहा जाता है—इसी को आपोलोक भी कहा जाता है। सूर्य्य में ज्योतिर्भाग उल्वण रहता है अतएव इसे ज्योतिर्लोक कहा जाता है। चन्द्रमा में सोमभाग उल्वण रहता है अतएव इसे अमृतलोक कहा जाता है। पृथिवी में अग्नि रहता है अतएव इसे अग्निलोक कहा जाता है। परन्तु ध्यान रहे कि वास्तव में सब में सब हैं। जैसा कि आगे बतलाने वाले हैं, पृथिवी सारे भूतों का रस है अतएव पृथिवी को 'रसलोक' भी कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"एषां वै भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः"।[3]

---

१ शत०ब्रा० १।४।३।३४। २ तै०उप० २।१।१।

३ शत०ब्रा १४।६।४।१।

स्वयम्भू-यज्ञ स्वस्वर है। उसी की सत्यावाक् से ये सारे पिण्ड बने हैं अतएव त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो (परमेष्ठी) ज्योतिः (सूर्य्यः) रसो (पृथिवी) अमृतम् (चन्द्रमा)--यह कहा जाता है। सारे प्रपञ्च से कहना हमें यही है कि पाँचों में पाँचों रहते हैं। यह तो हुई पिण्ड-व्यवस्था या पद-व्यवस्था। इसके बाद है पुनःपद, जिसे कि महिमामण्डल कहते हैं। इस महिमामण्डल में वेद-लोक-नाड़ी-भूत-मनोता और प्राण अर्थात् देवता ये छह विशेषक रहते हैं। प्रयेत्क पिण्ड में ये छहों रहते हैं। इनकी विभिन्नता से ही पाँचों मण्डलों का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है। पञ्चीकृत पाँचों के नाम और वेदलोकादि विशेषकों का विभाग निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट समझ में आ जाता है—

			पाङ्क्तो वै यज्ञः	पाङ्क्तो वै यज्ञः	पाङ्क्तो वै यज्ञः	पाङ्क्तो वै यज्ञः	पाङ्क्तो वै यज्ञः
			आकाशः	वायुः	अग्निः	आपः	पृथिवी
पाङ्क्तो वै यज्ञः	१.	स्वयम्भूः					
	२.	परमेष्ठीः					
	३.	सूर्य्यः					
	४.	चन्द्रमाः					
	५.	पृथिवी					

		१	२	३	४	५	६
		वेदः	लोकाः	नाड्यः	भूतानि	मनोताः	प्राणाः
१	स्वयम्भूः	ब्रह्मनिश्वसित वेदः	वाचां लोकः	ऋत सत्ये	आकाश	नियतिः, सूत्रं, वेदाः	ऋषयः(१०)
२	परमेष्ठीः	ब्रह्मस्वेद वेदः	वायुलोकः (अपां)	ऊर्जस्वती	वायुः	भृगुः अङ्गिरः अत्रिः (आपो वायुः सोमः) (अग्नियमादित्यः)	पितरः(१०) असुराः(९९)
३	सूर्य्यः	गायत्री मात्रिक वेदः	ज्योतिर्लोकः	इडा-पिङ्गला	तेजः	ज्योतिः, गौः, आयुः (३३) (१०००) (३६०००)	देवाः (३३)
४	चन्द्रमा	ब्रह्मस्वेद वेदः	अमृतलोकः	श्रद्धा	जलम्	रेतः, श्रद्धा, यशः	गन्धर्वाः(२७)
५	पृथिवी	यज्ञमात्रिक वेदः	रसलोकः (आपोज्योति रसोऽमृतम्)	सुषुम्णा	मृत्	वाग्, गौ, द्यौः पञ्चधा	मनुष्याः

हमने बतलाया था कि वाक्, अमृत-मर्त्य भेदेन दो प्रकार की है। जो मर्त्यावाक् है उससे भूत उत्पन्न होते हैं तथा देवता-ऋषि-वेद इत्यादि उसी अमृतावाक् से उत्पन्न हैं अतएव इस अमृतावाक् को वेदों की माता बतलाया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य। वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागात्। अवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु इति"।[1]

इसी सत्यावाक् से आम्भृणी-बृहती-अनुष्टुप् वाक् उत्पन्न हुई हैं। इन सबका उपादान कारण (सत्यावाक्) है अतएव हम सर्वत्र इसी सत्यावाक् का राज्य बतला सकते हैं। उस मन-प्राण-वाङ्मय प्रजापति से ही ये सातों लोक उत्पन्न हुए हैं। सातों लोक वाङ्मय हैं। वही सत्यावाक्, वेदवाक्, सप्तलोक संस्था का निर्म्माण करती है अतएव भगवान् मनु कहते हैं—

"सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥"[2]

शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध है अतएव वेद शब्देभ्यः कह दिया गया है। वास्तव में अर्थेभ्यः समझना चाहिए। यही सत्यवाक् भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम् इन सात विभक्तियों में परिगत हो कर सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रही है। वाक् के अलावा कुछ नहीं है। जहाँ तक ब्रह्म व्याप्त हो रहा है अर्थात् जहाँ तक प्रजापति की सत्ता है, वहाँ तक यह वाक् है अतएव श्रुति कहती है—

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।"[3]

इसी अभिप्राय से ऐतरेय आरण्यक श्रुति कहती है—

---

१ तै०ब्रा० २।८।८।५। २ मनु० १।२१।

३ ऋग्वेद म० १०।११४।८।

वाचा वै वेदाः संधीयन्ते । वाचा छन्दांसि । वाचा मित्राणि संदधति वाचा सर्वाणि । भूतान्यथो वागेवेदं सर्वम् इति ।"[१]

सारे प्रपञ्च से सिद्ध हो जाता है कि इस सत्यावाक् से ही भूः-भुवः आदि सात लोक उत्पन्न हुए हैं । ये सातों लोक तो मन-प्राण-वाङ्मय प्रजापति के वाक्-भाग की सात विभक्तियाँ मात्र हैं । चूँकि सातों विभक्तियाँ वाक् से उत्पन्न हुई हैं अतएव हम इन्हें 'वाक्' ही कह सकते हैं । वाक् का ही नाम 'नाम' है । हम जो क-च-ट-त-प बोलते हैं, ये शब्द उस वाक् से ही तो उत्पन्न होते हैं अतएव उपादान कारण सम्बन्धात् हम वाक् को 'नाम' कह सकते हैं । नाम को ही वैदिक परिभाषा में **व्याहृति** कहते हैं अतएव इन सातों वाक्-विभक्तियों को हम अवश्य ही 'व्याहृतियाँ' अर्थात् 'नाम' कह सकते हैं । एक ही वाक् के ये सात नाम हैं । इस प्रकार या तो उस प्रजापति के ये सात नाम समझो अथवा प्रजापति के वाक् भाग के ये सातों नाम समझो । दोनों में कोई भी विरोध नहीं है । ये सातों व्याहृतियाँ उस सत्य के रूप हैं अर्थात् आम्भृणी आदि वाक् से सातों ही होते हैं । इन सातों का मूल तो वही सत्यत्व है । उस सत्यावाक् से ही सारे लोक बनते हैं । बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इति सप्त लोका भवन्ति । प्रजापतेर्नामत्वपिहिता व्याहृतयः-वाचो विभक्तयो वाच एवैता इति कृत्वाप्येताः सप्त व्याहृतयः । सप्ताप्येता व्याहृतयः सत्यस्य रूपाणि" ।

इसी वाक् ब्रह्म से सातों लोक उत्पन्न हुए हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

वाग् वै ब्रह्म । तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म । ता वाऽएताः सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति । भूरिति वै प्रजापतिः इमामजनयत । भव इत्यन्तरिक्षम् । स्वरिति दिवम् । एतावद् वाऽइदं सर्वं यावदिमे लोकाः" ।[२]

---

१ ऐ० आ० ३।१।६। २ शत०ब्रा० २।१।४।१०-११ ।

ब्रह्म किसे कहते हैं ? इसका उत्तर देती हुई श्रुति कहती **हैं—वाग् वै ब्रह्म**। वाक् का ही नाम तो ब्रह्म है। वाक् मनप्राणाविनाभूत है, अतएव वाग् ब्रह्म है। उसका तात्पर्य यही समझना चाहिए कि मन-प्राण-वाक् का नाम ही ब्रह्म है। इसी आत्मप्रजापति से, सृष्टिसाक्षी ब्रह्म से, सारे विश्व का निर्म्माण होता है। स्वयम्भू आदि पाँच पिण्ड हैं। उनमें परमेष्ठी आदि की जो वाक् है उनका नाम आम्भृणी आदि है। उनसे सृष्टि नहीं होती है। वास्तव में सृष्टि का मूल कारण सत्यावाक् है। इस बात को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म" ।[1]

उस वाक् का जो सत्यभाग है, वही ब्रह्म है अर्थात् सत्या आम्भृणी-बृहती, अनुष्टुप् वाक्–उन चारों में से जो सत्यावाक् है उसी को सर्वमूलत्वात् ब्रह्म कहेंगे। वही वाक् सारे ब्रह्माण्ड का कारण है अतएव ये सातों नाम उसी सत्य ब्रह्म की सत्यावाक् के समझने चाहिए। वही सत्यावाक् भूः-भुवः आदि सातों नामों से व्यवहृत होती है। एक ही प्रजापति सात अवयवों में परिणत हो कर सात नामों से व्यवहृत होने लग गया है। भगवान् प्रजापति ने ही 'भूः' नाम से प्रसिद्ध इसको अर्थात् रोदसी को उत्पन्न किया है, 'भुवः' नाम से प्रसिद्ध क्रन्दसी को उत्पन्न किया है एवं 'स्वः' नाम से प्रसिद्ध संयती को उत्पन्न किया है। रोदसी को पृथिवी कहते हैं, क्रन्दसी को अन्तरिक्ष कहते हैं, संयती को द्यौ कहते हैं। इस प्रकार सारा ब्रह्माण्ड भूः-भुवः-स्वः इन तीन लोकों में विभक्त है। इनमें फिर प्रत्येक में तीन-तीन लोक हैं। जो 'भूः' है अर्थात् रोदसी नाम की पृथिवी है, वह पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ भेदेन तीनों लोकों में विभक्त है। क्रन्दसी नाम का 'भुवलोक' भी पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ तीन लोकों में विभक्त है। संयती नाम का 'स्वलोक' भी पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ तीन लोकों में विभक्त है। वस्तुतः रोदसी-क्रन्दसी-संयती नाम के भूः-भुवः-स्वः ये तीन ही लोक हैं। ये जो लोक हैं वही सब कुछ हैं। इनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वास्तव में बात सच है कि यह सारा प्रपञ्च उसी सत्यावाक् का उपबृंहण है। सत्यावाक् स्वयम्भू की वस्तु है। स्वयम्भूमण्डल के उदर में महिमा-विशिष्ट परमेष्ठी-मण्डल है। उस के उदर में महिमाविशिष्ट सूर्य्यमण्डल है।

---

१ शत०ब्रा० २।१।४।१०।

सूर्य्यमण्डल के उदर में महिमा-विशिष्ट पृथिवीमण्डल है। पृथिवी के गर्भ में महिमाविशिष्ट चन्द्रमण्डल है। यह सारा प्रपञ्च उस स्वयम्भू सत्यावाक् के उदर में समा रहा है अतएव उसके लिए अवश्य ही 'ब्रह्म' शब्द व्यवहृत कर सकते हैं। इसी अभिप्राय से तैत्तिरीय श्रुति भी कहती है—

"प्रजापतिर्वाचः सत्यमपश्यत्। भूर्भुवः सुवरित्याह। एतद्वै वाचः सत्यम्"।[1]

प्रजापति ने उसी वाक् के सत्यभाग को देखा। भूः-भुवः-स्वः ये तीनों वाक् के सत्यभाग हैं अर्थात् ये जो तुम सातों लोकों को देख रहे हो, वे ही तो उस सत्यावाक् के साक्षात् स्वरूप हैं। इसी अभिप्राय से मैत्रायणी श्रुति कहती है—

"भूः (रोदसी), भुवः (क्रन्दसी), स्वः (संयती)। एतद्वै ब्रह्म। एतत् सत्यम्। एतद् कृतम्। न वा एतस्मादृते यज्ञोऽस्ति"।[2]

भूः-भुवः-स्वः—यही तो ब्रह्म है, यही सत्य है, यही ऋत है। उस ब्रह्म के अलावा यज्ञ का स्वरूप कोई भी बाकी नहीं बचता। सारा यज्ञ उसी ब्रह्मोदर में भुक्त है। सत्य और ऋत इन दो पदार्थों के अलावा कोई तीसरी वस्तु है ही नहीं। सत्य अङ्गिरा का नाम है। ऋत भृगु का नाम है। सकेन्द्र पदार्थ को सत्य कहते हैं तथा केन्द्र से रहित पदार्थ को ऋत कहते हैं। अग्नि-वायु-आदित्य तीनों अङ्गिरा हैं। तीनों ही केन्द्र से बद्ध रहते हैं अतएव तीनों को हम 'सत्य' कहने के लिए तय्यार हैं। अप्-वायु-सोम तीनों भृगु हैं। इनमें केन्द्र नहीं होता अतएव उन्हें 'ऋत' कहते हैं। ये भृगु और अङ्गिरा दोनों ही परमेष्ठीमण्डल के 'मनोता' हैं। भृगु को सोम कह सकते हैं तथा अङ्गिरा को अग्नि कह सकते हैं। अग्नि में सोम-आहुति पड़ने का नाम यज्ञ है। यह यज्ञ अर्थात् अग्निसोमाहुति, उसी स्वयम्भू के उदर में होती है। वह सत्य अर्थात् अग्नि बना हुआ है। वही भूत अर्थात् सोम बना हुआ है। वह एक ही सत्य-ब्रह्म नानाभावों में परिणत हो रहा है, अतएव श्रुति कहती है—

---

१ तै०ब्रा० १।१।५।१। २ मैत्रा०सं० १।८।५।

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।[1]

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भाति एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ।।[2]

इन दोनों का अर्थ सत्यकृष्ण-रहस्य के प्रारम्भ में देखना चाहिए। यहाँ सिर्फ यही कहना है कि ऋत और सत्य दोनों उसी स्वयम्भू प्रजापति के स्वरूप हैं एवं सत्य का नाम अग्नि है, ऋत का नाम सोम है। दोनों के सम्बन्ध का नाम ही यज्ञ है एवं दोनों उसी सत्यब्रह्म के, वाग्ब्रह्म के, अर्थात स्वयम्भूमण्डल के उदर में हैं अतएव हम अवश्य ही **न वा एतस्मादृते यज्ञोऽस्ति** यह कह सकते हैं। इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि इस वाग् ब्रह्म से ही सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है एवं ये सातों लोक उसी प्रजापति के नाम हैं।

ज्योतिकृष्ण-रहस्य में हमने बतलाया था कि जो सत्य का सत्य है वही प्रजापति शब्देन व्यवहृत होता है। यह प्रजापति वास्तव में इस वाक् सत्य का भी सत्य है। सत्यावाक्, आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाङ्मय प्रजापति का एक हिस्सा है। यह वाक्ब्रह्म सत्य है अतएव सुतरां प्रजापति का सत्यस्य-सत्यत्व सिद्ध हो जाता है। हमें यहाँ सृष्टि का स्वरूप बतलाना है अतएव हम आनन्द-विज्ञान-मनस्वरूप मुक्तिसाक्षीभाग को छोड़ते हैं एवं मन-प्राण-वाङ्मय का ग्रहण करते हैं। **स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमयः**[3]—उस बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार उस सृष्टिसाक्षी आत्मा को, सत्य के भी सत्य प्रजापति को, वाङ्मय-प्राणमय-मनोमय समझना चाहिए। जैसा कि प्रकरण के प्रारम्भ में ही बताया था कि वाक् के अन्दर प्राण रहता है, प्राण के भीतर मन रहता है। वाक् बिना प्राण के नहीं रहती तथा प्राण बिना मन के नहीं रहता। तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। मन, प्राण का आलम्बन है एवं प्राण, वाक् का आलम्बन है। मन, अति सूक्ष्म है, वाक् अति स्थूल है एवं प्राण दोनों के बीच की वस्तु है। चूँकि तीनों अविनाभूत हैं

---

१ कठ उप० २।२।६। २ ऋग्वेद ८।५८।२। ३ शत०ब्रा० १४।४।३।१०।

अतएव वाक् के ग्रहण से मन-प्राण-वाक् तीनों गृहीत हो जाते हैं। मन और प्राण दोनों वाक् में रहते हैं अतएव मन प्राण को भी तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम् उस न्याय से वाक् ही कहने लगते हैं। विश्वेश्वर-भगवान् जिसमें रहते हैं, उसका नाम विश्वेश्वर जी का मन्दिर है। उसमें जब हम दर्शन करने जाते हैं तो कह बैठते हैं "विश्वेश्वर जी" में जाते हैं। क्या हम विश्वेश्वर जी में अर्थात् मूर्ति में थोड़े ही घुसते हैं? परन्तु चूँकि मूर्ति उस मन्दिर में रहती है अतएव तत् शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार से मन-प्राण को भी वाक् के अन्दर रहने के कारण 'वाक्' कह दिया जाता है। वस्तुतः जहाँ वाक् का उपपादन हो वहाँ मन, प्राण, वाक् तीनों का ग्रहण समझना चाहिए। यही मन-प्राण-वाङ्मय प्रजापति भूः-भुवः-स्वः (रोदसी-क्रन्दसी-संयती) तीन स्वरूपों में परिणत हो कर वह अपने स्वरूप को धारण करता है। तीन स्वरूपों में परिणत हो कर दृष्टि का विषय बनता है। स्वयम्भू से चन्द्रमा तक, अर्थात् सत्यलोक से भूर्लोक तक, अर्थात् संयती से रोदसी तक, आने वाली जो वाक् है, उसे खाली वाक् मत समझो अपितु, मन-प्राण-वाक् तीनों समझो। सर्वत्र वह मन-प्राण-वाङ्मय प्रजापति व्याप्त हो रहा है। तीनों लोक उसी मन-प्राण-वाङ्मय सत्यप्रजापति से उत्पन्न हुए हैं एवं प्रजापति है–सत्यस्वरूप, अतएव वाङ्मयत्वात् अर्थात् मन-प्राण-वाङ्मयत्वात्, तीनों लोक सत्य शब्देन व्यवहृत होते हैं अतएव भूः-भुवः-स्वः एतद्वै ब्रह्म। एतत् सत्यम् कहा जाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"अथ यत् सत्यस्य सत्यं स प्रजापतिरित्युक्तम्। स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः प्रतिपत्तव्यः। वाचोऽन्तरतः प्राणस्तदन्तरतोमन इति कृत्वा वाचोग्रहणेनेदं त्रितयं गृहीतं भवति। तात्स्यात् तांच्छब्द्यमितिन्यायात्। वाक् प्राणौ मनोमयश्चैष प्रजापतिस्त्रिधाभूत्वा स्वरूपं धत्ते भूःभुवः स्वरिति। तथाचैतेत्रयोलोकाः वाङ्मयत्वात् सत्यशब्दे नाख्यायन्ते"।

पूर्व की भूरिति वै प्रजापतिः इमामजनयत भुव इत्यन्तरिक्षम्। स्वरिति दिवम्। एतावद् वाऽइदं सर्वं यावदिमे लोकाः[1]–इस श्रुति में बताया गया

---

१ शत०ब्रा० २।१।४।१०।

है कि भूः-भुवः-स्वः इन तीन से अतिरिक्त कोई चौथा लोक है ही नहीं। एतावद् वा इदं सर्वम् से तो यही सिद्ध होता है कि तीन के अलावा चौथा लोक नहीं है एवं अन्य श्रुतियों में तीन से अतिरिक्त भी लोक सुने जाते हैं अतएव अन्य श्रुतियों के साथ इस वाजि श्रुति की एकवाक्यता करने के लिए इसका निम्नलिखित अर्थ समझना चाहिए। यह सारा प्रपञ्च भूः-भुवः-स्वः इन तीन लोकों में बँटा हुआ है। यह सर्वप्रपञ्चयुक्त त्रैलोक्य भूः-भुवः-स्वःस्वरूप है। भूः-भुवः-स्वः इन तीनों में प्रत्येक लोक फिर भूः-भुवः-स्वः भेदेन तीन प्रकार का है। इस प्रकार एक त्रिलोकी की तीन त्रिलोकी हो जाती हैं। वे तीनों त्रिलोकियाँ रोदसी, क्रन्दसी और संयती नाम से प्रसिद्ध हैं। हम जिसे पृथिवी कहते हैं, जिस पर कि हम प्रतिष्ठित हैं, वही पृथिवी है एवं आकाश में बृहती-छन्द पर स्थिर रूप से तपने वाला जो सूर्य्य है—वही 'द्यु' लोक है। 'द्यु' लोक को ही स्वर्गलोक कहते हैं। हमने सूर्य्य को स्वर्गलोक बतलाया है, अतएव श्रुति कहती है—

"एषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति । तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतः । अथ यत् परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः" ।[1]

सूर्य और पृथिवी के बीच का जो स्थान है वही अन्तरिक्षलोक कहलाता है। वह पहली त्रिलोकी है। पृथिवी भूर्लोक है, अन्तरिक्ष भुवर्लोक है एवं सूर्य्य स्थानीय द्यौ स्वर्लोक है। यह पहली त्रिलोकी 'रोदसी' नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी नाम है प्रतिष्ठा का। जो किसी वस्तु की प्रतिष्ठा होती है, आलम्बन होती है, उसे ही पृथिवी कहते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि हम जिस पर बैठे हैं—मात्र वही पृथिवी नहीं है। पूर्व-परिभाषानुसार पृथिवी एक नहीं अनन्त हैं, करोड़ों हैं, असंख्यात् हैं। आकाश में जितने भी नक्षत्र दिखलाई पड़ रहे हैं इन सब में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राण प्रतिष्ठित हो रहे हैं। किसी में आग्नेयप्राण की प्रधानता है, तो किसी पर सौम्यप्राण प्रतिष्ठित हैं, किसी में वायुप्राण प्रतिष्ठित है। लुब्धक बन्धु नामक बृहस्पति नक्षत्र

---

१ शत०ब्रा० १।६।३।१० ।

भी है, जिसमें सब नक्षत्रों का रस मौजूद है, अतएव लुब्धक-बन्धु बृहस्पति (नक्षत्र) को पशुपति कहा जाता है। इस प्रकार पृथिवियाँ अनन्त हैं, तथापि इनके अतिस्थूल विभाग तीन ही मान लिए जाते हैं। तीन पृथिवी मान लेने से सारा ब्रह्माण्ड पकड़ में आ जाता है। जब तीन पृथिवी मानी जाती हैं, तो तीन ही द्यौ हो जाते हैं, तीन ही अन्तरिक्ष हो जाते हैं। इन तीनों में से जो रोदसी त्रिलोकी है, उसका स्वरूप बतला दिया गया है। अब चलिए दूसरे विभाग की ओर—जिसे हमने पृथिवी का द्युलोक बतलाया है, उस सूर्य्य को पृथिवी समझिए, जैसे हमारी प्रतिष्ठा पृथिवी है तथैव देवताओं की प्रतिष्ठा सूर्य्य है। पृथिवी हमारी प्रतिष्ठा नहीं है, हमारे भौतिक शरीर की प्रतिष्ठा है। 'अहं' पद-वाच्य जो आत्मा है वह तो सूर्य्य से बना हुआ है, अतएव आत्मा की प्रतिष्ठा तो सूर्य्य ही है। आत्मा की अन्तिम प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है, अतएव कहा जाता है—

"तदेवमिमांल्लोकान्त्समारुह्य अथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति"।[1]

सूर्य्य पृथिवी है, इससे सिद्ध हो जाता है कि सारी रोदसी त्रिलोकी ही पृथिवी है। सूर्य्य से अभिप्राय यहाँ महिमामण्डल-विशिष्ट सूर्य्य लिया जाता है। सूर्य्य के इस महिमामण्डल के बृहत् साम के उदर में पृथिवी-चन्द्रमादि सब समा जाते हैं, अतएव हम कह सकते हैं कि रोदसी ही पृथिवी है। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि यह पृथिवी जिस पर कि हम बैठे हुए हैं, चन्द्रमा को साथ ले कर भगवान् सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। अस्तु, यह सूर्य्य पृथिवी है। सूर्य्य से ऊपर जो परमेष्ठी भगवान् हैं, वही द्यौ है। सूर्य्य को अपना आत्मा अर्थात् प्रतिष्ठा बनाने वाली जो यह रोदसी है—वह पृथिवी-चन्द्रमादि सारे प्रपञ्च को साथ ले कर परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाती रहती है। इस परमेष्ठी के और रोदसी के अर्थात् दूसरी 'क्रन्दसी' नाम से सूर्य्य के बीच का जो स्थान है, वही अन्तरिक्षलोक है। बस, यहीं पर त्रिलोकी है। परमेष्ठी आपोमय है। मैथुनी-सृष्टि इसी

---

१ शत०ब्रा० १।६।३।१०।

पानी से, इसी परमेष्ठी से, प्रारम्भ होती है, अतएव इसे जनत्-लोक कहा जाता है। यही 'जनत्' शब्द लौकिक संस्कृत में 'जनः-लोक' नाम से प्रसिद्ध है। परमेष्ठी और सूर्य्य के बीच में सौर-तेज फैला रहता है। सौर-तेज का नाम 'महः' है, अतएव इस लोक का नाम 'महर्लोक' हो जाता है। इसे क्रन्दसी त्रिलोकी समझो, क्योंकि भृगु-अङ्गिरा-अत्रि की प्रतिष्ठा यही परमेष्ठिमण्डल है, अतएव पूर्व-परिभाषानुसार हम इसे अवश्य ही पृथिवी कह सकते हैं। इस परमेष्ठी के मण्डल में महिमाविशिष्ट सूर्य्य की अपनी हैसियत एक बुद् बुद् के समान है। परमेष्ठिमण्डल बहुत बड़ा है। इस परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू-पिण्ड है—वही द्युलोक है। यह क्रन्दसी अर्थात् पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्य आदि सब नक्षत्रों को अपने उदर में रखने वाली परमेष्ठी उस स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाया करती है। क्रन्दसी और परमेष्ठी के बीच का जो स्थान है वह अन्तरिक्ष है—यही तीसरी 'संयती' त्रिलोकी है। जिस पर प्राण प्रतिष्ठित हैं, वही पृथिवी है, यह मान लेने पर स्वयम्भू को पृथिवी मानना पड़ेगा, क्योंकि उसमें ऋषि प्राण प्रतिष्ठित हैं, अतएव इस अति-व्याप्ति को दूर करने के लिए पृथिवी का दूसरा लक्षण निरूपित करना चाहिए। जो चारों ओर परिक्रमा लगाये, वह परिक्रमा लगाने वाली पृथिवी है एवं जिसकी वह परिक्रमा करती है—वह द्यौ है। दोनों के बीच का जो स्थान है वह अन्तरिक्ष है। बस, इस परिभाषा में कहीं भी अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है। हम जिस ग्रह पर बैठे हुए हैं और जो सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा करती है, उसे हम पृथिवी कह सकते हैं। यह सूर्य्य की परिक्रमा करती है अतएव सूर्य्य को 'द्यौ' कह सकते हैं। यही पहली रोदसी त्रिलोकी है एवं यह सूर्य्य परमेष्ठि-मण्डल के चारों ओर परिक्रमा लगाता है अतएव उसी पूर्व परिभाषानुसार सूर्य्य पृथिवी हो जाता है एवं परमेष्ठी द्यौ हो जाती है—यही दूसरी क्रन्दसी त्रिलोकी है। यह क्रन्दसी अर्थात् परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा करती है अतएव परमेष्ठी को पृथिवी और स्वयम्भू को द्यौ कह सकते हैं। स्वयम्भू स्थिर है, अतएव वह पृथिवी नहीं हो सकता—यही तीसरी संयती त्रिलोकी है। जिस प्रकार चन्द्रमा पृथिवी की परिक्रमा करता हुआ पृथिवी के साथ ही सूर्य्य की परिक्रमा करता है, एवमेव पृथिवी सूर्य्य की परिक्रमा देती हुई परमेष्ठी की तथा सूर्य्य परमेष्ठी के साथ स्वयम्भू की परिक्रमा करता

रहता है। पूर्व के प्रकरण से स्पष्ट है कि तीन पृथिवी हैं, तीन ही अन्तरिक्ष हैं एवं तीन ही द्यौ हैं। यद्यपि इस प्रकार नौ लोक होने चाहिए, परन्तु रोदसी और क्रन्दसी, द्यौ और पृथिवी दोनों बन जाती हैं अतएव सात ही लोक रह जाते हैं। भूः, भुवः, स्वः (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः) यह रोदसी त्रिलोकी है। स्वः, महः, जनः–यह क्रन्दसी त्रिलोकी है। जनः, तपः, सत्यम्–यह संयती त्रिलोकी है। इस प्रकार मन-प्राण-वाङ्मय भगवान् प्रजापति सात लोकों में परिणत हो कर सात नामों से व्यवहृत होने लगते हैं। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"यत्तु श्रुतौ–एतावद् वा इदं सर्वं यावदिमेलोका इति श्रूयते। तेनैतत् त्रैलोक्यादतिरिक्तं नास्तीति प्राप्नोति। श्रूयते-तस्मादपि त्रैलोक्या ऊर्ध्वं कतिपये लोकाः। तेनैतस्याः श्रुत्या अयमर्थोऽवसीयते–भूः–भुवः–स्वः इति हि त्रैलोक्यमिदं सर्वम्। तच्च प्रत्येकं पुनस्त्रेधा–भूर्भुवः स्वरिति। ता एता इत्थं तिस्रस्त्रिलोक्यो द्रष्टव्याः रोदसी-क्रन्दसी-संयतीचेति। इयमेव पृथिवी-पृथिवी। यः सूर्य्यः साद्यौः। इयं हि पृथिवी सूर्य्यं प्रदक्षिणी कुरुते। तयोरन्तरतोयोऽवकाशस्तदन्तरिक्षम्। सैषा त्रिलोकी रोदसी नाम ॥१॥ अथेयं रोदसी पृथिवी। तदूर्ध्वमवस्थितं परमेष्ठी द्यौः। इयं हि रोदसी सूर्य्यात्मा-परमेष्ठिनं प्रदक्षिणी कुरुते। तयोरन्तरतोयोऽवकाशस्तदन्तरिक्षं सैषा त्रिलोकी क्रन्दसी नाम ॥२॥ अथैषा क्रन्दसी पृथिवी। तद् ऊर्ध्वमवस्थितः स्वयम्भूद्यौः। इयं क्रन्दसी परमेष्ठ्यात्मा स्वयंभुवं प्रदक्षिणी कुरुते। तयोरन्तरतोयोऽवकाशस्तदन्तरिक्षम्। सैषा त्रिलोकी संयती नाम ॥३॥ यथा चन्द्रः पृथिवीं परिक्रममाणः पृथिव्या सह सूर्य्यं प्रदक्षिणी कुरुते–एवं पृथिवी-सूर्य्यं परिक्रममाणा सूर्य्येण सहपरमेष्ठिनं सूर्य्योऽपि परमेष्ठिना सह स्वयम्भुवं प्रदक्षिणी कुरुते। इत्थं च तिस्रः पृथिव्यः। तिस्रोदिवः। त्रीण्यन्तरिक्षाणि ॥"

वैदिक परिभाषानुसार पृथिवी को माता कहा जाता है एवं द्युलोक को पिता कहा जाता है। वास्तव में बात है भी ऐसी ही। स्वयम्भू-प्राण जब

परमेष्ठी में आहुत होता है तो परमेष्ठी और स्वयम्भू दोनों के रस के सम्बन्ध से पितर और असुरों की सृष्टि होती है अतएव हम स्वयम्भू को पिता कह सकते हैं एवं परमेष्ठी को माता कह सकते हैं। एवमेव पारमेष्ठ्य सोम जब सूर्य्य में आहुत होता है तो सूर्य्य में ३३ देवता उत्पन्न होते हैं अतएव इस क्रन्दसी में परमेष्ठी को पिता कह सकते हैं, सूर्य्य को माता कह सकते हैं। हम जिस पर बैठे हैं, उस पृथिवी माता के गर्भ में सौम्यरस प्रविष्ट होता है तो अस्मदादि प्राणिवर्ग की उत्पत्ति होती है, अतएव नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूता[1]–यह कहा जाता है, अतएव हम द्युलोक को पिता और पृथिवीलोक को माता कहने के लिए तय्यार हैं। इसी अभिप्राय से वेद-भगवान् कहते हैं—

"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः। विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥"[2]

रोदसी-क्रन्दसी-संयती भेदेन तीन पृथिवियाँ हो जाती हैं, तीन द्युलोक हो जाते हैं, अतएव श्रुति कहती है—

"तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति। मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥"[3]

"एकः (सत्यस्वरूपः परोरजा प्रजापतिः) तिस्रोमातृः (त्रीन् पितॄन् बिभ्रत्, बिभ्रणः सन्) ऊर्ध्वस्तस्थौ (सत्यलोकेतस्थौ) (ते इमे षड्रजांसि) ईम् (प्रजापतिम्) न-अवग्लापयन्ति। अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं-अविश्वमिन्वाम्-वाचम्-मन्त्रयन्ते॥"

वह मन-प्राण-वाङ्मय सत्यप्रजापति तीन माताओं एवं तीन पिताओं को धारण करता हुआ सबसे ऊपर स्थित है। यद्यपि उस प्रजापति ने इन सब को उठा रखा है, तथापि उसको ये छहों ही, जरा भी ग्लानि नहीं पहुँचा रहे

१ ऋग्वेद मं० ७।६३।४। २ ऋग्वेद मं० ६।५१।५।
३ ऋग्वेद मं० १।१६४।१०।

हैं। हम जिस पर बैठे हुए हैं, उस पृथिवी में न मालूम कितना बोझ है। ऐसी-ऐसी अनन्त पृथिवियाँ, उस सूर्य्य के उदर में हैं। ऐसे-ऐसे अनन्त सूर्य्य उस परमेष्ठी के उदर में हैं। ऐसी-ऐसी अनन्त परमेष्ठियाँ उस मन-प्राण-वाङ्मय स्वयम्भू प्रजापति के उदर में हैं। इस प्रकार इतने बोझ को उस प्रजापति ने अपने में पकड़ रखा है। और उसे इस बोझ से जरा भी तकलीफ मालूम नहीं हो रही है। फूल के माफिक छहों लोकों को उठा रखा है! इससे यही बात दिखलाई देती है कि उस प्रजापति में जो कि मन-प्राणस्वरूप है– इन सबसे अधिक बल है। इससे सिद्ध किया जाता है कि मैटर (पदार्थ) से फोर्स बल में कहीं अधिक बल है। शारीरिक-बल से प्राण-बल अधिक है। प्राणबल से मनोबल अधिक है। उसी से इसने सब को अपने में पकड़ कर रखा है। पृथिवी और द्यु की गणना में ये स्वयम्भूपिण्ड जिसके कि केन्द्र में प्रजापति रहता है, स्वयं एक द्यु होता है। स्वयम्भूमण्डल संयती का द्युलोक है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि इस स्वयम्भू नाम के द्युलोक के पृष्ठ में, सारे विश्व को, सातों लोकों को, व्याप्त करने वाली जो वाक् है, जो कि विश्ववित् है, अर्थात् सर्वत्र उपलब्ध है। जिसका कहीं भी अभाव नहीं है एवं जो अविश्वमिन्वा है, अर्थात् विश्व उसकी माप नहीं कर सकता है। ऐसी वाक् को ये छहों लोक सदा चाहा करते हैं। परमेष्ठी की आम्भृणी वाक् परमेष्ठी तक ही रहती है। बृहती वाक् सूर्य्य के महिमा-मण्डल तक ही व्याप्त रहती है। अनुष्टुप् वाक् पृथिवी के महिमामण्डल तक ही व्याप्त रहती है, परन्तु स्वयम्भूमण्डल की सत्यावाक् सर्वत्र व्याप्त है। अतएव विश्वविदं कहा जाता है। अपिच–पृथिवी की वाक् को बृहती नाप लेती है, बृहती को परमेष्ठी नाप लेता है, परमेष्ठी को स्वयम्भूविश्व नाप लेता है। सबकी सीमा है। सब अपने उत्तरोत्तर के विश्व से नापी हुई हैं। सब विश्वमिन्वा हैं। परन्तु यह स्वयम्भूमण्डल की वेदवाक् सबसे बाहर है। इसे कोई भी नहीं नाप सकता है। इसकी सीमा का पता ही नहीं है, अतएव इसके लिए अविश्वमिन्वाम् यह कहा है। इसी वेदवाक् से, सत्यावाक् से, नीचे के सारे मण्डलों की स्थिति है। यह वेदवाक् इन छहों की प्रतिष्ठा है। सब इसी वाक् को चाहा करते हैं। अतएव मन्त्रयन्ते कहा है। 'मन्त्रयन्ते' में थोड़ा सा चमत्कार है। गुप्त भाषण का नाम 'मन्त्रणा' है। पृथिवी-सूर्य्य-परमेष्ठी तीनों मण्डलों की अनुष्टुप्-बृहती-

आम्भृणी तीनों वाक् उस सत्यावाक् से गुप्त भाषण कर रही हैं। अनुष्टुप् में जो सत्यावाक् है, वह बृहती में नहीं है। जो बृहती में है, वह परमेष्ठी में नहीं है। इस प्रकार सब के साथ सत्यावाक् की अलग-अलग मन्त्रणा हो रही है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"रोदसी, क्रन्दसी, संयती इस त्रैलोक्य से ऊपर विश्वातीत मन-प्राण-वाङ्मय एक परोरजा प्रजापति है, जो तीन पृथिवी और तीन द्युलोकों को धारण किए हुए स्थिररूप से बैठा हुआ है। प्रजापति से धार्य्यमाण जो ये छहों लोक हैं, वे प्रजापति को अपने बोझ से जरा भी तकलीफ नहीं पहुँचा रहे हैं अर्थात् प्रजापति को इनके धारण किए रहने में कष्ट नहीं मालूम हो रहा है। बिना ही परिश्रम के बड़ी आसानी से, प्रजापति ने इन सब को धारण कर रखा है। अपिच—ये 'द्यावापृथिवी' इस स्वयम्भू द्युलोक के पृष्ठ में इन सातों लोकों से भी अपरिमित विश्व को व्याप्त करने वाली वेदत्रयी वाक् को चाहा करते हैं। ऋक्-साम-यजु: ये तीन वेद हैं। ये तीनों सत्य कहलाते हैं, अतएव **वेदाः सत्य** यह कहा जाता है। वेद क्यों कर सत्य कहलाते हैं ? (इसका विवेचन स्व० पं० मोतीलाल जी शास्त्री कृत सत्यकृष्ण-रहस्य में देखना चाहिए—सं०)। इस प्रजापति के सत्यलोक में 'वेदत्रयी' आविर्भूत होती है। यहाँ आविर्भूत हो कर चारों ओर सारे विश्व में फैलती हुई, तीन पृथिवियाँ, तीनों द्युलोक, ये छहों, प्रातिस्विक-रूपेण उनकी वस्तु बन जाती है। वे ही तीनों वेद सारे लोकों में जा कर उन-उनकी वस्तु बन जाते हैं। परोरजा प्रजापति वाक् को ही सारी पृथिवियाँ सारे द्युलोक प्रातिस्विक-रूपेण ग्रहण करते हैं अतएव—**मन्त्रयन्ते** कहा है। अन्य सम्बन्धिनी वाक् से (स्वयम्भू से सम्बन्ध रखने वाली वाक् से) जो गुप्तरूप से ग्रहण करना है, उसी का नाम 'मन्त्रणा' कहलाता है। सब लोक प्रातिस्विक-रूपेण एक दूसरे से सम्बन्ध न रख कर, अलग-अलग उस वेद-वाक् का ग्रहण करती हैं अतएव 'मन्त्रयन्ते' कहा है। उस सत्यलोक में रहने वाली वाक् का नाम 'ब्रह्मनिश्वसिता वेदवाक्' है। वही सूर्य्य में आ कर, सूर्य्य की वस्तु बन कर, गायत्रीमात्रिका नाम धारण कर लेती है। यही वेद परमेष्ठी में जा कर ब्रह्मस्वेद कहलाने लगता है। यही पृथिवी में आ कर यजमात्रिक कहलाने लगता है। इसी प्रातिस्विक-स्वरूप को बतलाने के लिए 'मन्त्रयन्ते' कहा है—

"अस्यार्थः–त्रैलोक्यत्रयादूर्ध्वः कश्चिदेकः परोरजाः प्रजापतिः-तिस्रः पृथिवी, तिस्रोदिवः, बिभ्राणः सन् तस्थौ । ताश्चैताधार्य्यमाणा पृथिव्योदिवश्चेमं प्रजापतिं स्वभारेण न व्यथयन्ति । विनैवश्रमेणायं प्रजापति स्ताः सर्वाः पृथिवीर्दिवश्चधत्ते । अपिचैताः पृथिव्योदिवश्च-अमुष्य द्युलोकस्य पृष्ठे विश्वतोऽप्यपरिमितां विश्वमभिव्याप्नुमानां वेदत्रयरूपां वाचंमन्त्रयन्ते । ऋग् यजुः सामानीति वेदाः सत्यम् । सत्यलोके एवैकत्राविर्भूय त्रैलोक्य त्रयादपि बहिर्धा विभवन्तः–सर्वाः पृथिवीः सर्वाः दिवश्च पृथक् पृथक् प्रातिस्विकरूपेणानुषज्जन्ते । परोरजसः प्रजापतेर्वाचं पृथगिवैताः सर्वाः पृथिव्यो दिवश्च गृह्णन्ति–इत्याह मन्त्रयन्ते–इति । अन्यसम्बन्धिन्यावाचो गुप्तं ग्रहणं मन्त्रणम् । सत्यलोके ब्रह्मनिश्वसिता वेदवाक् । सूर्य्येतु सा गायत्री-मात्रिका नाम–इति मन्त्र तात्पर्य्यं भाव्यम् ।"

सारा ब्रह्माण्ड त्रैलोक्य-त्रिलोकी से युक्त है । सारे ब्रह्माण्ड में तीन ही पृथिवी हैं, तीन ही द्यु हैं । इसमें अनेक श्रुतियाँ प्रमाण हैं । वेद के न देखने के कारण आज तक तीन ही लोक अर्थात् एक ही त्रिलोकी मानी जाती थी, परन्तु वेद के अवलोकन से सिद्ध होता है कि त्रिलोकी एक नहीं अपितु, तीन हैं। तीन त्रिलोकियों के लिए वेद में असंख्य प्रमाण हैं । इनमें चार मन्त्र, अथर्वसंहिता में हैं । इनसे स्पष्ट ही पूर्व कथन की पुष्टि होती है । लक्षणैक, चक्षुष्कों के लिए उनका उद्धरण करना अनुचित न होगा—

"तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥"[1]

"तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥"[2]

त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान् ।
त्रीन् मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान् गोप्तॄन कल्पयामि ते ॥"[3]

---

१ अथर्ववेद ४।४।२०।२ । २ अथर्ववेद १६।४।२७।३ ।
३ अथर्ववेद १६।४।२७।४ ।

"तिस्रो दिवो अत्यतृणत् तिस्र इमाः पृथिवीरुत ।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि ।।"[1]

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे यच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ।।"[2]

इन मन्त्रों का अर्थ करना प्रकृत से दूर जाना है। केवल प्रमाणवादियों के सन्तोष के लिए इनका उद्धरण कर दिया गया है। भाष्यकार अपनी ओर से, इसमें प्रमाणभूत तीनों मन्त्रों का उद्धरण करते हैं। उन तीनों का अर्थ करके हम, इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। पहला मन्त्र यह है—

"तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्य्यमन्वरुण मित्र चारु ।।"[3]

हे वरुण ! हे मित्र ! हे अर्य्यन् !–आपने तीन पृथिवियों को, तीन ही द्युलोकों को एवं इन पृथिवियों और द्युलोकों के बीच के जो तीन प्रेत हैं अर्थात् अन्तरिक्ष हैं, इनको धारण कर रखा है। हे आदित्यो ! आपका जो महत्त्व है वह ऋत से बहुत बढ़ा हुआ है एवं वह बहुत ही सुन्दर है।

परमेष्ठी आदि पाँचों पिण्डस्वरूप है। प्रत्येक पिण्ड में वरुण, मित्र और अर्य्यमा तीन प्राण रहते हैं। पूर्व कपाल का नाम मित्र है, पश्चिम कपाल का नाम वरुण है। मध्य के खस्वास्तिक भाग का नाम अर्य्यमा है। जो वस्तु हमारी ओर आ रही है, हम से स्नेह कर रही है–वही मित्र कहलाती है। जो जा रही है–वही वरुण कहलाती है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे तक सौर-प्रकाश हमारी ओर आ रहा है अतएव इसको हम मित्र (पूर्व कपाल) कहने के लिए तय्यार हैं एवं दिन के बारह बजे से रात के बारह बजे तक, प्रकाश हमारी ओर से हटता रहता है अतएव इस पश्चिम कपाल को वरुण कहते हैं। इन दोनों के बीच का जो प्राण है, वही अर्य्यमा कहलाता

---

१ अथर्ववेद १६।४।३२।४ । २ अथर्ववेद ५।१।३।७ ।
३ ऋग्वेद मं० २।२७।८ ।

हैं। इस प्रत्येक पिण्ड में इन तीनों की सत्ता माननी पड़ती है। छह द्यावा-पृथिवी में, पाँच पिण्ड हैं, उन्हीं से प्रार्थना की जाती है कि हे पिण्ड-रक्षक! आपने इन्हें धारण कर रखा है। सकेन्द्र का नाम सत्य है, सत्य से अर्थात् पिण्ड से बाहर जो-जो महिमामण्डल रहता है—वह बहुत ही बड़ा रहता है—पिण्ड से महिमा बड़ी दूर तक जाती है। सूर्य-परमेष्ठी आदि पिण्ड यद्यपि द्यौ हैं, परन्तु इन का जो ऋत-मण्डल है, उससे तो यह बहुत ही महिमाशाली हो गए हैं एवं इनकी यह महिमा सबको प्यारी लगती है। कैसे प्यारी न लगे? जब कि इन्हीं के आधार पर सप्तलोक स्थित हैं। दूसरा मन्त्र है—

"तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन्तिस्रो भूमीरुपराः षड् विधानाः।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्ख' हिरण्ययं शुभे कम्॥"[1]

संयती के प्रारम्भ से रोदसी के अन्त तक, दोनों के बीच में एक झूला बना हुआ है। एक तरफ स्वयम्भू पर्वत है, दूसरी ओर पृथिवी पर्वत है एवं दोनों पर्वतों से बद्ध बीच में एक बड़ा भारी झूला है। इस झूले में (अन्तरस्मिन्) तीन पृथिवी रखी हुई हैं, तीन ही द्युलोक रखे हुए हैं। इस प्रकार से छह प्रकार के पत्थर (उपराः) अर्थात् घनपिण्ड इस झूले में झूल रहे हैं। इस झूले के बीच में बैठे हुए झोटा देने (झूलने के लिए धक्का देने) (गृत्सः) वरुण महाराज इस हिरणमय झूले को, संसार के कल्याण के लिए द्युलोक में चला देते हैं एवं कभी झोटा दे कर पृथिवी की ओर चला देते हैं।

सबसे ऊपर स्वयम्भू-मण्डल है, सब से नीचे पृथिवी-मण्डल है। दोनों के बीच में परमेष्ठी-मण्डल है। पिण्ड जितने भी बनते हैं—सब अग्नि से ही बनते हैं। संयती और रोदसी के जितने भी पिण्ड हैं, सब आग्नेय हैं, यही सुनहरी झूला है। परमेष्ठी द्वारा स्वयम्भू के सारे पदार्थ पृथिवी में आया करते हैं। पृथिवी के सारे पदार्थ परमेष्ठी द्वारा स्वयम्भू में जाया करते हैं। यदि यह आदान-विसर्ग बन्द हो जाए तो, उसी समय विश्व-प्रलय हो जाए। तीसरा मन्त्र है—

---

१ ऋग्वेद मं० ७।८७।५।

"तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ।।"[1]

द्युलोक तीन हैं। तीनों में से दो द्युलोक तो सविता देवता के उपस्थ में (धरातल में) रखे हुए हैं। (उपस्थो—उपस्थे) एवं एक द्यु यमराज के भुवन में अर्थात् प्रान्तभाग में रखी हुई है। यह स्थान (प्रान्तभाग) सर्वथा विराषाट् है अर्थात् प्रान्तभाग बहुत ही खतरनाक है। इस पर एकाएक किसी की स्थिति नहीं हो सकती। गाड़ी के दोनों पहियों के बीच में हो कर एक लोह का मोटा कीला रहता है। पहियों का संघटन इसी कीले से होता है। इस कील के जो दोनों ओर के प्रान्तभाग हैं उन्हें ही 'अणि' कहते हैं। चूँकि वह एक लोक उस प्रान्तभाग में है अतएव उस स्थान को हम विश्वस्वरूप रथ की 'अणि' कहेंगे। जिस प्रकार रथ्य अणि पर सवार हो आदमी चलते हैं तथैव इस तीसरे द्यौ में जो कि अमृतस्वरूप है, उस पर देवता लोग बैठे हुए हैं। वेद पूछता है, यदि कोई उस अणि को पहचानता है तो बतलावें कि वह अणि कौनसी है ? परमेष्ठी-मण्डल में सविता देवता रहते हैं। दो द्युलोकों के अर्थात् क्रन्दसी और संयती के अधिष्ठाता यही सविता है एवं स्वयम्भू विश्व का अन्तिम छोर है। यह स्वयम्भू द्यौ विश्वातीत है। मैथुनी सृष्टि परमेष्ठी से ही प्रारम्भ होती है। वह स्वयम्भू दोनों विश्वों का छोर-भाग है। इस पर अर्थात् स्वयम्भू पर जो कि सर्वथा अमृत स्थान है। कोई विरला ही बैठता है। पूर्वोक्त मन्त्र-श्रुतियों से सिद्ध हो जाता है कि इस प्रजापति के विश्व में तीन त्रिलोकियाँ हैं। पहली का नाम रोदसी है, दूसरी का नाम क्रन्दसी है एवं तीसरी का नाम संयती है।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों की समष्टि का नाम त्रिलोकी है। ऐसी त्रिलोकियाँ रोदसी, क्रन्दसी, संयती भेदेन कुल तीन हैं। प्रत्येक त्रिलोकी में जो द्युलोक होता है, पृथिवी उसके चारों ओर परिक्रमा करती रहती है। त्रिलोकी में पृथिवी वही कहलाती है, जो कि परिक्रमा लगाती है एवं पृथिवी जिसकी परिक्रमा करती है वही द्युलोक कहलाता है। ये ही पृथिवी और द्यु

---

१ ऋग्वेद मं० १।३५।६।

का सामान्य लक्षण है। जब परिक्रमा करने वाली को पृथिवी कहा जाता है, तो मानना पड़ता है कि एक-एक द्युलोक के अनन्त पृथिवियाँ परिक्रमा करती हैं। सबसे पहले रोदसी त्रिलोकी में, सूर्य्य द्यौ है एवं हम जिस पर बैठे हुए हैं—वह पृथिवी है। चूँकि यह सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा देती है अतएव हम इसे 'पृथिवी' और सूर्य्य को 'द्यौ' कहने के लिए तय्यार हैं। सूर्य्य के चारों ओर केवल एक पृथिवी ही नहीं घूमती अपितु, अनेक पृथिवियाँ घूमती हैं। इन घूमने वालों में से 'केतु, ग्रह, देवसेना और अर्य्यमणः पन्थाः' ये चार प्रधान हैं। सूर्य्य बृहती छन्द पर एक जगह स्थिर है। इसके चारों ओर बुध परिक्रमा देता है, बुध के बाद शुक्र देता है, शुक्र के बाद पृथिवी परिक्रमा देती है, पृथिवी के बाद मंगल परिक्रमा करता है। मंगल के बाद एक सौ आठ देव-सेना परिक्रमा देती है। इसी देवसेना के लिए **देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**—कहा जाता है। देवसेना के बाहर बृहस्पति परिक्रमा देते हैं, इसके बाद शनि परिक्रमा करते हैं, शनि के बाद हर्बल नाम का ग्रह परिक्रमा लगाता है, हर्बल के बाद नेपचून नाम का ग्रह परिक्रमा करता है एवं इसके ऊपर नक्षत्रक-क्षर है। इस प्रकार सूर्य्य को मध्य में रख कर पूर्वोक्त देवसेना और ग्रह पूर्वोक्त क्रमानुसार सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा देते रहते हैं। यह ग्रहादि ⬭ इस क्रम से परिक्रमा लगाते हैं एवं इसी सूर्य्य के चारों ओर एक सहस्र धूमकेतु, ग्रहों के विरुद्ध 0 इस प्रकार परिक्रमा देते हैं। चीन के ज्योतिषियों ने तीन सौ धूमकेतु माने हैं। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक इक्कीस धूमकेतु मानते हैं। किन्तु भारतीय महर्षि सहस्र धूमकेतु मानते हैं। ये धूमकेतु चन्द्रमा के समान प्रकाशित रहते हैं। सूर्य्य-सत्ता इन्हीं धूमकेतुओं से है, अतएव कहा जाता है—

"उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्य्यम्।"[1] "येभिरादित्यस्तपति प्रकेतुभिः। येभिः सूर्यो ददृशे चित्रभानुः-इत्यादि॥"[2]

वास्तव में देखा जाए तो एक धूमकेतु ही क्रमानुसार सूर्य्य बना हुआ है। इन केतुओं की परिक्रमा का क्रम ऊपर-नीचे के हिसाब से है। एक के

---

१ यजुर्वेद ३३।३१। २ तै०ब्रा० २।७।१५।२।

ऊपर एक, एक के ऊपर एक, इस क्रम से ये परिक्रमा लगाते हैं। सूर्य्य के पास का जो धूमकेतु है, उसकी एक परिक्रमा एक सौ पिचहत्तर (१७५) वर्ष में समाप्त होती है एवं बड़े से बड़ा धूमकेतु तीस हजार (३००००) वर्ष में एक परिक्रमा लगाता है। घूमते-घूमते जब धूमकेतु हमारी ओर आ जाता है तो हम धूमकेतु का उदय बताया करते हैं। प्रसङ्गागत यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि आकाश में जो सूर्य्य दिखलाई पड़ रहा है, वह किसी समय में एक धूमकेतु ही था। यह धूमकेतु करोड़ों कोसों में व्याप्त था। धीरे-धीरे धूमकेतु के परिभ्रमण के कारण, उस ज्योति ने उसमें एक केन्द्र बना लिया। घड़ी की बड़ी सुई पर दृष्टि डालिए जो कि मिनिट बतलाती है। इस बड़ी सूई की प्रत्येक बिन्दु अपनी भिन्न-भिन्न गति कायम करती है। केन्द्र बिन्दु को परिभ्रमण करने में जरा सी देर लगती है। अन्तिम बिन्दु को बड़ी देर लगती है। बस, इससे प्रतिबिन्दु की गति में फ़र्क पड़ जाता है। बस, ठीक यही हालत इस धूमकेतु में हुई। धूमकेतु बड़े जोर से घूमता था अतएव उसके केन्द्र में गति प्राबल्य हो गया और अग्रभाग में शैथिल्य हो गया। इस शैथिल्य के कारण गति भेद हो जाने से धूमकेतु का जो आगे का हिस्सा था, उसका सम्बन्ध केन्द्र से छूट गया। आगे का हिस्सा हट कर इस धूमकेतु से अलग हो गया। बस, इसी का नाम 'शनि' हुआ। शनि के उत्पन्न हुए बाद उस अवशिष्ट पिण्ड की गति में फिर अन्तर पड़ने लगा। अन्तर होते-होते फिर उसमें से एक हिस्सा अलग हो गया। बस, यही बृहस्पति कहलाए। फिर गति के अन्तर के कारण उससे एक हिस्सा अलग हो गया। वह हिस्सा एक सौ आठ (१०८) विभागों में परिणत हो गया। ये ही एक सौ आठ विभाग देवसेना नाम से प्रसिद्ध हुए। तदनन्तर जो हिस्सा प्रविविक्त हुआ वह मंगल कहलाया। तदनन्तर जो हिस्सा प्रविविक्त हुआ वह पृथिवी कहलाया। इसके बाद जो हिस्सा प्रविविक्त हुआ वह शुक्र कहलाया। तदनन्तर जो हिस्सा पृथक् हुआ वह बुध कहलाया। इस प्रकार जो सूर्य्य अर्थात् धूमकेतु, शनि तक था, वही गति भेदेन उपग्रह पैदा कर के आज इतना सा रह गया। चूंकि पूर्वोक्त सारे ग्रह सूर्य्य से उत्पन्न होते हैं अतएव इन्हें उपग्रह भी कहा जाता है। जिस समय सूर्य्य से पृथिवी उपग्रह बना था, मानना पड़ता है—उस समय सूर्य्य पृथिवी से बिल्कुल सटा हुआ था, इसीलिए श्रुति कहती है—

"समन्तिकमिव ह वाऽइमेऽग्रे लोका आसुः। इत्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥"[1]

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि शनि आदि सारे ग्रहों को तो हम सूर्य्य के उग्रपह मान सकते हैं परन्तु पृथिवी को सूर्य्य का उपग्रह नहीं मान सकते। कारण इसका यही है कि अन्यान्य सारे ग्रह ज्योतिष्मान् हैं, परन्तु पृथिवी प्रकाशवती नहीं है। इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि जिन अन्य ग्रहों को आपने ज्योतिष्मान् समझ रखा है, वे वास्तव में सर्वथा प्रकाश रहित हैं। संसार में ज्योति कुल तीन ही प्रकार की होती है–'स्वज्योतिः–परज्योतिः–रूपज्योतिः'। जो अपने स्वरूप से प्रकाशित रहते हैं–जिन्हें दूसरे के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती–ऐसे पदार्थ स्वज्योति कहलाते हैं। लुब्धक-स्वाति-चित्रा-रेवती-सूर्य्य इत्यादि नक्षत्र स्वज्योति कहलाते हैं एवं जो दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित रहें–वे 'परज्योति' कहलाते हैं। जो दूसरे के प्रकाश से उजाला करने में असमर्थ हों, केवल रूप-प्रत्यक्ष के कारण बनें–वे रूपज्योति पदार्थ कहलाते हैं। स्वज्योति पदार्थ को 'सूर्य्य' कहा जाता है। हम जिसे आकाश में देखते हैं, वही सूर्य्य नहीं है अपितु, स्वज्योति जितने भी पदार्थ हैं–सब सूर्य्य हैं। लुब्धकादि सारे सूर्य्य हैं। आकाश में एक सूर्य्य नहीं, अनन्त सूर्य्य हैं। जो लुब्धक नाम का नक्षत्र है उसमें सूर्य्य से हजार गुणी अधिक गर्मी है। जिस वस्तु को सूर्य्य चौबीस (२४) घण्टे में पिघलाता है, लुब्धक उसे एक सैकण्ड में पिघला देता है। वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं कि यदि सूर्य्य लुब्धक के पास चला जाए तो वह सूर्य्य सैकण्ड भर में भाप बन कर उड़ जाए। स्वाति भी स्वज्योति पदार्थ है, अतएव स्वाति को भी 'सविता' कहा जाता है **देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्**[2] में सवितुः से स्वाति ही अभिप्रेत है। तात्पर्य्य यही है कि स्वज्योति पदार्थ 'सूर्य्य' कहलाते हैं एवं जो दूसरों की ज्योति से प्रकाशित रहते हैं वे परज्योति कहलाते हैं। परज्योति पदार्थों को 'चन्द्रमा' कहते हैं। चन्द्रमा एक नहीं अनेक हैं। जैसे सूर्य्य के शनि आदि उपग्रह हैं तथैव शनि के भी उपग्रह बन जाते हैं। शनि आदि पिण्ड हैं। पिण्ड अग्नि-सोमात्मक हुआ करता है। इसका जो सोमभाग है, वह उसी गति तारतम्य से, उस पिण्ड से, अलग हो जाता है। बस, वही उपग्रह कहलाने

---

१ शत०ब्रा० १।४।३।२२। २ यजुर्वेद १।१०।

लगता है। शनि के चारों ओर ऐसे आठ उपग्रह घूमते हैं। आठों में सूर्य्य का ही प्रकाश आता है। चूंकि आठों परज्योति हैं अतएव हम आठों को चन्द्रमा कहने के लिए तय्यार हैं। एवमेव बृहस्पति में चार चन्द्रमा हैं। मंगल में दो हैं। पृथिवी में एक है। शुक्र और बुध सूर्य्य के अत्यन्त समीप आ जाते हैं अतएव वहाँ के सोम को सूर्य्य उसी क्षण शोषित कर लेता है। पूर्वोक्त सारे उपग्रह परज्योति कहलाते हैं एवं पृथिवी रूपज्योति स्वरूपा है। जब कि शनि आदि भी स्वज्योति नहीं हैं तो ऐसी अवस्था में चूंकि अन्य ग्रह ज्योतिष्मान् हैं, परन्तु पृथिवी नहीं है अतएव पृथिवी को ग्रह नहीं मान सकते—यह कहना सर्वथा असंगत है। परमेश्वर के सृष्टि-क्रम को देख कर महा आश्चर्य होता है। शनि सूर्य्य से एकदम दूर है, वहाँ सूर्य्य का प्रकाश अत्यल्प मात्रा में पहुँचता है अतएव वहाँ आठ चन्द्रमा उत्पन्न कर दिए हैं। बृहस्पति शनि की अपेक्षा नजदीक है अतएव यहाँ चार ही चन्द्रमा हैं। मंगल और भी नजदीक है अतएव वहाँ दो ही चन्द्रमा हैं। पृथिवी और भी नजदीक है अतः वहाँ एक ही चन्द्रमा है। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जैसे हमें चन्द्रमा प्रकाशित दिखलाई पड़ता है तथैव चन्द्रलोक के निवासी गन्धर्व देवताओं को हमारी पृथिवी प्रकाशित करती है। इतना ही नहीं चन्द्रमा की अपेक्षा उन्हें पृथिवी सहस्र गुना अधिक ज्योतिष्मती दिखलाई पड़ती है। कारण इसका वही है कि चन्द्रमा की अपेक्षा पृथिवी पिण्ड बहुत बड़ा है, अतएव दिन में पृथिवी पर प्रतिफलित जो सौर-रश्मियाँ हैं वे चन्द्रलोक में प्रकाश करती हैं। पृथिवी सूर्य्य की रश्मियों के कारण चन्द्रमा से भी अधिक चमकने लगती है। अस्तु, शुक्र और बुध सूर्य्य के बिल्कुल समीप हैं अतएव इनमें चन्द्रमा है ही नहीं। सारे प्रपञ्च से बताना हमें यही है कि सूर्य्य के चारों ओर हर्षल, दो चन्द्रमा सहित नेपचून, आठ चन्द्रमा सहित शनि, चार चन्द्रमा सहित बृहस्पति, एक सौ आठ देव-सेना, दो चन्द्रमा सहित मंगल, एक चन्द्रमा सहित पृथिवी, शुक्र, बुध, माठर पिङ्गल और हणु नाम के पारिपार्श्विक ग्रह, परिक्रमा किया करते हैं। इस प्रकार द्युस्थानीय सूर्य्य के इतनी पृथिवियाँ परिक्रमा किया करती हैं। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि चन्द्रमा के चारों ओर सत्ताईस(२७) गन्धर्व और परिक्रमा देते हैं। जो परिक्रमा करते हैं उन्हें 'भूः' कहा जाता है एवं जिसके परिक्रमा करते हैं उन्हें 'स्वः' कहा जाता है एवं इन दोनों के बीच में चूंकि और अनेक पिण्ड रहते हैं अतएव उस स्थान को 'भुवः' कहा

जाता है। जो पृथिवी पिण्ड को तपाता है अर्थात्–अपनी वस्तु दे कर पृथिवी पिण्ड की और 'भुवः' की रक्षा करता है, उसे–य एतान् उपतापयति–इस व्युत्पत्ति से 'स्वः' कहा जाता है। हर्षल के चारों ओर दो चन्द्रमा परिक्रमा लगा रहे हैं एवं इन दोनों की स्थिति हर्षल से रहती है, अतएव हर्षल को द्यौ कहा जा सकता है। दोनों चन्द्रमाओं को इसकी पृथिवी कहा जा सकता है। एवमेव शनि को भी चन्द्रमाओं की अपेक्षया द्यौ कहा जा सकता है। पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा परिक्रमा लगाता है अतएव पृथिवी को द्यौ कह सकते हैं। चन्द्रमा को पृथिवी कह सकते हैं। यह तो हुई उपग्रह-त्रिलोकी, अब चलिए ग्रह-त्रिलोकी की ओर–शनि आदि सारे ग्रह सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा देते हैं अतएव इन सब को हम पृथिवी कहेंगे। सूर्य्य को 'द्यौ' कहेंगे। इनमें प्रत्येक पृथिवी के हिसाब से, उस-उस पृथिवी की अपेक्षा से नाना त्रिलोकियाँ हो जाती हैं। शनि पृथिवी है अर्थात् 'भूः' है। सूर्य्य, स्वः है एवं शनि और सूर्य्य के बीच में रहने वाले मंगल-बृहस्पति-देवसेना-शुक्र-बुधादि 'भुवः' हैं। एक भूः और स्वः के उदर में अनेक भूः रहती हैं अतएव इसे अन्तरिक्ष के लिए भुवः कह दिया है। इस प्रकार रोदसी, क्रन्दसी, संयती, तीनों त्रिलोकियों की अपेक्षा, केवल शनि से हो सकती है। एवमेव बृहस्पति पृथिवी है, सूर्य्य स्वः है, देवसेना मंगलादि ग्रह भुवः हैं। मंगल पृथिवी है, सूर्य्य स्वः है, पृथिवी, शुक्र-बुधादि भुवः हैं। पृथिवी भूः है, शुक्र-बुधादि भुवः है, सूर्य्य स्वः है। शुक्र पृथिवी है। बुध, माठर, पिङ्गलादि भुवः हैं, सूर्य्य स्वः हैं। बुध, पृथिवी है, माठर, पिङ्गलादि भुवः हैं, सूर्य्य स्वः है। इस प्रकार प्रत्येक पृथिवी की अपेक्षा से, अनन्त त्रिलोकियाँ हो जाती हैं। यह तो हुई सूर्य्य तक की कथा। अब चलिए क्रन्दसी त्रिलोकी की ओर–पूर्वोक्त सारे ग्रह-उपग्रहों को अपने सोलरसिस्टम में ले कर सूर्य्य, बृहस्पति (ग्रह बृहस्पति से इसे पृथक् समझना चाहिए। यह बृहस्पति सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी-मण्डल के अन्त में रहता है। इसी के लिए–**बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः**–यह कहा जाता है।) यम, ब्रह्मणस्पति, सविता, भृगु, वरुण इतने पिण्ड, परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा देते हैं। इन सब को हम परिक्रमा देने के कारण पृथिवी कहने के लिए तय्यार हैं। इनमें भी तत्-तत् पृथिवी की अपेक्षा से अनेक त्रिलोकियाँ हो सकती हैं। इन सब को उदर में ले कर परमेष्ठी, विश्वकर्म्मा,

सूत्रात्मा भगवान् स्वयम्भू के परिक्रमा करते रहते हैं। यही तीसरी संयती त्रिलोकी है। पूर्वोक्त प्रपञ्च से सिद्ध हो जाता है कि एक-एक त्रिलोकी में द्युलोक के चारों ओर पृथिवी परिक्रमा करती रहती है एवं रोदसी, क्रन्दसी, संयती के प्रत्येक द्युलोक के चारों ओर अनन्तानन्त पृथिवियाँ परिक्रमा करती रहती हैं। इस प्रकार उस-उस पृथिवी की अपेक्षा से अनन्त त्रिलोकियाँ हो जाती हैं। प्रत्येक पृथिवी के हिसाब से रोदसी, क्रन्दसी, संयती तीनों ही अनन्त हो जाती हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"एकैकस्यां त्रिलोक्यां पृथिवी दिवं परिक्रमते। एकैकां दिवं बह्व्यः पृथिव्यः परिक्रामन्ति। तथा च तां-तां पृथिवीमपेक्ष्य नाना त्रिलोक्यः सम्भाव्यन्ते"।

पूर्वोक्त अनन्त त्रिलोकियों में से जिस पर हम बैठे हुए हैं—उस पृथिवी की अपेक्षा से हम एक ही त्रिलोकी मानते हैं। हमारा सम्बन्ध चूँकि एक ही त्रिलोकी से है, अतएव त्रिलोकियों के आनन्त्य रहने पर भी हमारी अपेक्षा से रोदसी आदि त्रैलोकियों से हमारा सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि सम्बन्ध है भी तथापि मनुष्य बुद्धि के बाहर होने के कारण हमारी दौड़ केवल तीन ही त्रिलोकियों तक होती है। इन तीनों में यद्यपि नौ (६) लोक प्राप्त होते हैं परन्तु सूर्य्य और परमेष्ठी नाम के द्यौ पृथिवी भी बन जाते हैं, अतएव सात ही लोक रह जाते हैं। इन सातों में 'भूः' से ले कर तपोलोक तक के छह रज हैं जो कि चलने वाले हैं। उस न चलने वाले—सातवें स्वयम्भू नाम के सत्य प्रजापति से बद्ध होने के कारण इतस्ततः नहीं हो सकते हैं। स्वयम्भू में निबद्ध—नियत जो स्वयम्भू नाम का विश्वरूप है उसके चारों ओर ये छहों रज परिक्रमा लगाया करते हैं एवं स्वयम्भू सूर्य्य से बद्ध रहने के कारण ही यह कभी अपनी नियति से अलग नहीं होते हैं—

"अस्माभिस्तु स्वामेतां पृथिवीमेवापेक्ष्येयमेका त्रिलोकी विवक्ष्यते। तथा च त्रिलोकी नामानन्त्येऽप्यस्माकं तिस्र एव त्रिलोक्योऽपेक्षिता भवन्ति। तत्र च लोकानां नवत्वप्राप्तावपि मध्यमयो-

द्यंयोर्दिवोः पृथिवीत्वात् सप्तावशिष्यन्ते। तेऽमी सप्त लोका (प्रजापतेः स्वायम्भुवस्य) सप्तव्याहृतयो भवन्ति। तत्र पृथिव्यादीनि षडिमानि रजांसि संचारीणि सप्तमेनासंचारिणा स्वयम्भुवासत्येन संस्तब्धानि नेतस्ततो विप्लवन्ते। स्वयम्भुवि निबद्धाः सन्तो नियतेऽस्मिन् विश्वरूपे परितः संचरन्ति न ततो विच्यवन्ते ॥"

तथा च श्रूयते—

"अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान्। वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥"[१]

महर्षि दीर्घतमा कहते हैं–इस गूढ़ रहस्य को जरा भी नहीं जानता हुआ मैं जो इस विषय के जानकार हैं (चिकितुष) उनको पूछता हूँ। मैं स्पर्द्धा से नहीं पूछता, मैं स्वयं इस रहस्य को नहीं जानता हूँ, अतएव पूछता हूँ, उन विद्वानों से, जानकारों से, मेरा यही पूछना है, जिसने उन छह रजों को अपने में स्तब्ध कर रखा है। ऐसा अज के अर्थात् अव्यय के रूप में कौनसा नित्य पदार्थ है, जिसने इन छहों को पकड़ रखा है। वह सातवाँ नित्यतत्त्व कौनसा है ? यही मेरा प्रश्न है। यह वही सातवाँ स्वयम्भू सत्यलोक अधिष्ठाता मन-प्राण-वाङ्मय अव्ययप्रजापति है। इस सत्यप्रजापति ने सारे विश्व को अपने सूत्र सत्य से स्तब्ध कर रखा है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥"[२]

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्–इन सात लोकों में परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी ये चार प्रतिमा-प्रजापति रहते हैं। स्वयम्भू के सोलरसिस्टम के उदर में ये चारों प्रजापति रहते हैं। स्वयम्भू में–आत्मा, पद, पुनः पद और कात्स्न्र्य ये चार वस्तुएँ रहती हैं। आदि प्रजापति में ये ही चारों

---

१ अथर्ववेद ९।५।९।७।   २ अथर्ववेद १४।१।१।१।

हैं। इसी आदि प्रजापति में परमेष्ठी आदि चारों पिण्ड उत्पन्न होते हैं। इन चारों में भी प्रत्येक में आत्मा, पद, पुनः पद, कात्स्न्र्य–ये ही चारों रहते हैं। जो कुछ वस्तुएँ उस आदि प्रजापति में रहती हैं, वे ही वस्तुएँ इन चारों में रहती हैं, अतएव इन चारों (परमेष्ठी-सूर्य्यादि) को हम 'प्रतिमाप्रजापति' कहने के लिए तय्यार हैं। परमेष्ठी आदि प्रतिमाप्रजापति है। इसमें निम्नलिखित श्रुति ही प्रमाण है। श्रुति कहती है—

"स ऐक्षत प्रजापतिः। इमं वाऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत् संवत्सरमिति। तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इति।"[1]

प्रजापति ने इच्छा की कि संवत्सरस्वरूप जो मेरी आत्मा की प्रतिमा है उसे उत्पन्न करूँ अतएव **प्रजापतिः संवत्सरः**[2]–यह कहा जाता है। जिन चारों प्रतिमा प्रजापतियों को स्वयम्भू प्रजापति ने उत्पन्न किया है, वे ही चारों वास्तव में संवत्सरस्वरूप हैं। 'सम' का अर्थ है–एकीभाव (**समित्येकीभावे**)। 'वस्' का नाम है–'स्थिति', 'सर' का नाम है–'गति'। जो एकत्र ठहरता हुआ चलता है, उसी को 'संवत्सर' कहते हैं। **सम्-एकरूपे, वसन्-सन् सरति स संवत्सरः**–यही संवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति है। वास्तव में चारों ऐसे ही हैं, चारों बिल्कुल स्थिर हैं एवं चारों ही खूब चलते हैं। कुम्हार के घूमते हुए चाक पर दृष्टि डालिए। चाक का बिन्दु-बिन्दु घूम रहा है। चल रहा है परन्तु चाक बिल्कुल स्थिर है। यदि चाक चलता होता तो वह स्व-स्थान से आगे बढ़ा हुआ मालूम होता। अवयव प्रतिक्षण चल रहे हैं, समष्टि नहीं चल रही है। एवमेव इन चारों के घूमने की जो एक लाइन है, उससे ये कभी बाहर नहीं जाते हैं। अपने-अपने क्रान्ति-वृत्त के बाहर एक बिन्दु भी नहीं जाते हैं। बस, रेखापरित्यागात्, चारों को हम 'स्थिर' कहने के लिए तय्यार हैं, परन्तु उस वृत्त के प्रतिबिन्दु पर ये भ्रमण करते रहते हैं, सदा परिक्रमा किया करते हैं अतएव इन्हें 'गतिमान्' भी कह सकते हैं। बस, इस स्थितियुक्ता गति के कारण ही इन चारों को हम संवत्सर कह सकते हैं।

---

१ शत० ब्रा० ११।१।६।१३। २ ऐ०ब्रा० १।१।

स्वयम्भू स्थिर है, वह चलता नहीं है अतएव उसे हम 'संवत्सर' नहीं कह सकते । संवत्सर शब्द की यह व्युत्पत्ति अन्य ब्राह्मणों के अनुसार है । शतपथ ब्राह्मण में इसकी व्युत्पत्ति दूसरी तरह से मानी गई है । 'सर' कहते हैं–'वक्रगति' को । चूँकि ये चारों ही सारे मण्डल में वक्रीभूत बन कर चलते हैं अतएव **सर्वत्र सर्वदैव सरति** अर्थात् **वक्रीभूतः सन् गच्छति**– इस व्युत्पत्ति से इसे **सर्वत्सर** कहा जाता है । सर्वत्सर को ही परोक्षप्रिय देवता **संवत्सर** कहते हैं । अधिक अन्तर नहीं है–रेफ को 'म' ही तो कर दिया जाता है । ये चारों ही पिण्ड वास्तव में वृत्त से तिरछे जाना चाहते हैं । इनका प्रतिबिन्दु आगे की ओर जाना चाहता है, परन्तु द्यौ के आकर्षण से वह उधर ही खिचता जाता है । एक होती है–केन्द्रापकर्षिणी शक्ति तथा दूसरी होती है–केन्द्रापसारिणी शक्ति । केन्द्रापसारिणी पिण्ड को सीधा ले जाना चाहती है तथा केन्द्रापकर्षिणी अपनी ओर मोड़ लेती है । उदाहरणार्थ हम जिस पर बैठे हुए हैं, उस पृथिवी पर ही दृष्टि डालिए । पृथिवी को सूर्य्य-रश्मियाँ अपनी ओर खींचती हैं एवं पृथिवी के केन्द्र की केन्द्रापसारिणी शक्ति' उसे विरुद्ध दिक् में ले जाना चाहती है परन्तु सूर्य्य का बल अधिक होता है अतएव पृथिवी सूर्य्य की ओर ही मुड़ आती है । यहाँ इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि जितना सूर्य्य इसे अपनी ओर खींच रहा है–केन्द्रापसारिणी शक्ति ठीक उसे अपनी ओर खींच रही है । यदि विरुद्धाकर्षण न होता तो पृथिवी सूर्य्य में कूद पड़ती । परन्तु जितना ही सूर्य्य इसे अपनी ओर खींचता है–पृथिवी की केन्द्रापसारिणी शक्ति उतनी ही इसे अपनी ओर खींचा करती है । जो केन्द्रापसारिणी शक्ति होती है, उसे 'असुर' कहते हैं तथा केन्द्रापकर्षिणी को 'देवता' कहते हैं । इस प्रकार असुर और देवता **अस्माकमेवेदं भुवनम्** कहते हुए परस्पर झगड़ा करते रहते हैं । परन्तु अन्त में विजय देवताओं की ही होती है । तात्पर्य्य यह है कि सूर्य्य का आकर्षण आसुर आकर्षण से प्रबल होता है अतएव पृथिवी का प्रतिबिन्दु सूर्य्य की ओर झुक जाता है । सूर्य्य रश्मि-स्वरूप डोरी से पृथिवी-स्वरूप लट्टू को फिरा रहा है । यदि लट्टू हाथ से छूट जाए तो पृथिवी सूर्य्य से विरुद्ध एकदम सीधी चली जाए । अपिच–यदि केन्द्रापकर्षिणीशक्ति और केन्द्रापसारिणीशक्ति दोनों समान होतीं तो पृथिवी एक बिन्दु भी आगे न चलती अपितु वहीं स्थित हो

जाती, क्यों कि समान बल की स्पर्द्धा में वस्तु स्तब्ध हो जाती है। उदाहरणार्थ–एक रस्से पर दृष्टि डालिए–जिसे दो पहलवान खींच रहे हैं। यदि दोनों में समान बल होगा तो रस्सा स्थिर हो जाएगा। यदि दोनों में से एक का बल अधिक बल हुआ तो वह अधिक बल वाला मयआदमी के रस्से को अपनी ओर खींच लेगा। बस, ठीक यही स्थिति यहाँ समझनी चाहिए। देवता जीत गए, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि पृथिवी सूर्य्य की ओर घूम गई। इसी गतिविद्या को बताती हुई श्रुति कहती है—

"देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तान् त्स्पर्धमानान् गायत्री अन्तरा तस्थौ। या वै सा गायत्री आसीत् इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ तऽउभयऽएव विदाञ्चक्रुयतरान्वै न इयमुपावर्त्स्यति ते भविष्यन्ति परेतरे भविष्यन्ति इति। तामुभयऽएवोपमन्त्रयाञ्चक्रिरे। अग्निरेव देवानां दूत आस सहरक्षा। इत्यसुररक्षसमसुराणाम्। साग्निमेवानुप्रेयाय तस्मादन्वाह अग्निं दूतं वृणीमहे इति" ॥[1]

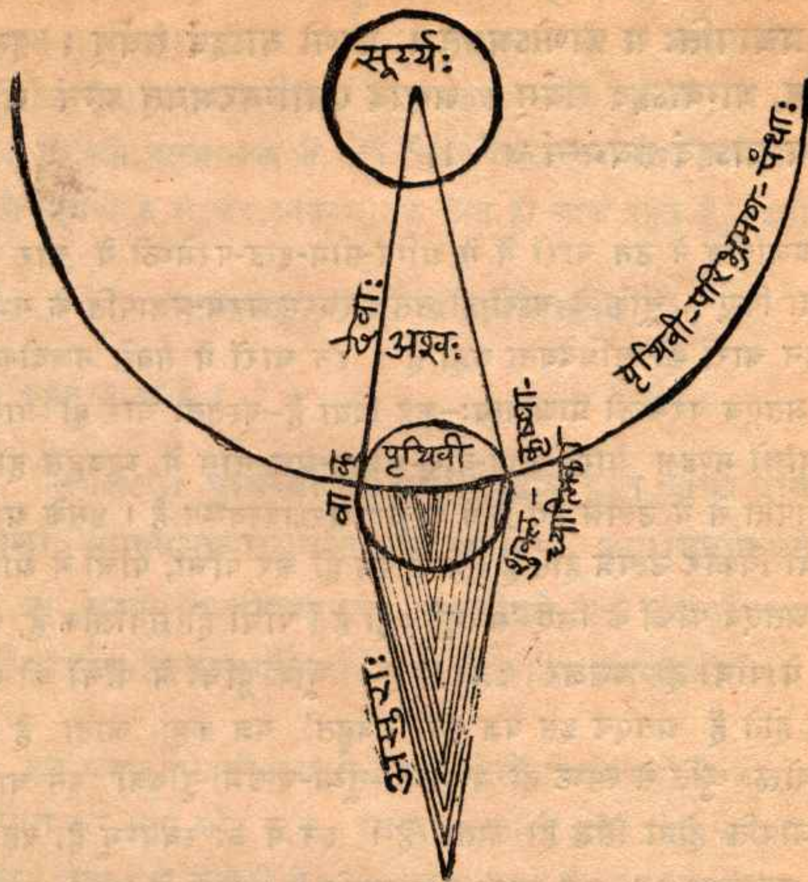
अगले पृष्ठ पर दिए गए चित्र से यह गतिक्रम और देवासुर-संग्राम स्पष्ट समझ में आ जाता है।

इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि ये चार ही पिण्ड वक्रगति से चलते हैं परन्तु केन्द्राकर्षण से चार ही मण्डल गति में परिणत हो जाते हैं अतएव इनको 'संवत्सर' कहा जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"स ऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वाऽअत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति स सर्वत्सरोऽभवत्सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्संवत्सर इति स यो हैवमेतत्संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद यो हैनं पाप्मा मायया त्सरति न हैनं सोऽभिभवत्यथ यमभिचरत्यभि हैवैनं भवति य एवमेतत्संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद" ॥[2]

---

१ शत० ब्रा० १।४।३।३४। २ शत०ब्रा० ११।१।६।१२।



प्रकृत में कहना हमें यही है कि उस प्रजापति ने इन चार संवत्सर प्रतिमाओं को पैदा किया । प्रजापति में भी चार ही अक्षर हैं एवं संवत्सर में भी चार ही अक्षर हैं । इसलिए हम संवत्सर को परमप्रजापति की प्रतिमा कहने के लिए तय्यार हैं एवं आत्मादि चारों की समानता से भी इनको प्रतिमा-प्रजापति कहने के लिए तय्यार हैं अतएव श्रुति कहती है—

"आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत । यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सर-श्चतुरक्षरः प्रजापतिस्तेनो हैवास्यैष प्रतिमा" ।।[1]

आगे जा कर श्रुति कहती है—

"ता वाऽएताः । प्रजापतेरधि देवता असृज्यन्त अग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः । परमेष्ठी स आपोऽभवत् । आपो वाऽइदं

१ शत०ब्रा० ११।१।६।१३ ।

सर्वम् । प्रजापतिः स प्राणोऽभवत् । प्राणो वाऽइदं सर्वम् । इन्द्रः स वागभवत्, वाग्वाऽइदं सर्वम् । अन्नाद एवाग्निरभवत् अन्नं सोमः । अन्नादश्च वाऽइदं सर्वमन्नं च" ।।[1]

प्रजापति ने उन चारों में से अग्नि-सोम-इन्द्र-परमेष्ठी ये चार अधिदेवता पैदा किए। चूँकि वे चारों ही उस स्वयम्भू परम-प्रजापति के गर्भ में हैं अतएव इन चारों को अधिदेवता कहा है। इन चारों में सबसे नजदीक परमेष्ठी है अतएव **परमेष्ठी प्राजापत्यः**–कह दिया है–वस्तुतः चार ही प्राजापत्य हैं। ये पाँचों मण्डल प्राण–आप-वाक्-अन्नाद-अन्न नाम से व्यवहृत होते हैं। जिस प्रजापति से ये उत्पन्न हुए हैं वे अव्ययाक्षरक्षरस्वरूप है। इसके आत्मक्षर से ये पाँचों विकार उत्पन्न होते हैं एवं उत्पन्न हो कर पाँचों, पाँचों में आहुत हो जाते हैं, अतएव पाँचों के लिए 'सर्वम्' कहा है। पाँचों ही सर्वात्मक हैं, पञ्चीकृत हैं। ये पाँचों ही 'यज्ञक्षर' कहलाते हैं। चूँकि पाँचों में पाँचों की आहुति से उत्पन्न होते हैं अतएव इस यज्ञ को 'सर्वहुत' यज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुति से स्पष्ट ही परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन चारों का प्रतिमाप्रजापति होना सिद्ध हो जाता है। इन में जो स्वयम्भू है, वह परम-प्रजापति कहलाता है। इस स्वयम्भू प्रजापति के गर्भ में ये चारों, उस परम-प्रजापति के स्वरूप को धारण कर स्थित रहते हैं, अतः हम उस स्वयम्भू को अवश्य ही परमप्रजापति कहने के लिए तय्यार हैं—

"इति श्रुत्या–परमेष्ठ्यादीनां प्रतिमात्वावगमात् । स्वयम्भूस्त्वेकः परमः प्रजापतिः । एतस्मिन्नेव प्रजापतौ परमेष्ठ्यादीनां परमप्रजापतिरूपेणावस्थितत्वात्" ।।

हम इस पृथिवी पर रहते हैं अतएव पृथिवी तक ही यह प्राजापत्य बलशा बतलाई जाती है अतएव चन्द्रमा को कभी छोड़ दिया जाता है। चन्द्रमा पृथिवी के भी आगे रहता है। हम इस पृथिवी पर ही रहते हैं अतएव बलशा-

---

१ शत०ब्रा० ११।१।६।१४ एवं १६–१६।

क्रम में कभी-कभी चन्द्रमा को छोड़ दिया जाता है परन्तु यह चन्द्रमा घूमते-घूमते जब सूर्य्य और पृथिवी के बीच में आ जाता है तो इसका भी ग्रहण कर लिया जाता है। तात्पर्य्य यही है कि चन्द्रमा यदि पृथिवी के पृष्ठभाग में रहता है तो उसे बलशा-क्रम में नहीं लिया जाता है। बस, चन्द्रमा के परित्याग से पृथिवी से ले कर स्वयम्भू तक सात ही लोक रहते हैं। इसीलिए—

"सप्तव्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः"[1]

—यह कहा जाता है।

"तत्रैतस्यां पृथिव्यां वयं प्रतितिष्ठाम इति कृत्वा पृथिव्यन्तेवेयं बलशा व्याख्यातव्याभवति इति चन्द्रोऽयं कदाचिदुपेक्ष्यते कदाचिद् वा सूर्य्यपृथिव्योरन्तरतः सूपमीयते। चन्द्रपरित्यागच्चैतां पृथिवीमारभ्य स्वयम्भूपर्यन्ताः सप्त वै लोका उपपद्यन्ते"॥

इस प्रकार रोदसी-क्रन्दसी-संयती तीनों त्रिलोकियों के जो सात लोक हैं, वे मिल कर सत्य और ऋत, इन दो भागों में बाँट दिए जाते हैं। जिसमें केन्द्र नहीं होता, जो शरीरी है—उसे 'ऋत' कहते हैं एवं केन्द्रयुक्त सशरीरी पिण्ड को सत्य कहा जाता है। सत्य उसे कहते हैं जो अपनी लाइन से कभी नहीं हटे। जिस पदार्थ में केन्द्र होता है, उससे निकलने वाली वस्तु केन्द्र से बद्ध रहती है। यह केन्द्र को छोड़ कर इतस्ततः कभी नहीं जा सकती है अतएव 'सकेन्द्र' को हम 'सत्य' कहने के लिए तय्यार हैं। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी ये चारों ब्रह्मपुर सायतन हैं, पिण्डस्वरूप हैं, केन्द्रयुक्त हैं अतएव हम इन चारों को 'सत्य' कहने के लिए तय्यार हैं। इनके बीच के जो अन्तरिक्ष हैं उनमें चूँकि आयतन नहीं है, वे तीनों ही निरायतन हैं, अतएव उनको हम 'ऋत' कहने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार सात लोक ऋत और सत्य इन दो विभागों में बँट जाते हैं—

---

१ सन्ध्या संस्करण सं० २०२०।

"ते चैते सप्त लोकाः संहृत्य द्वेधा विभज्यन्ते ऋतं च सत्यं चेति । अहृदयमशरीरमृतम् । सहृदयम् सशरीरं सत्यम् । स्वयम्भूः, परमेष्ठी, सूर्यः, पृथिवीति चत्वारि ब्रह्मपुराणि सायतनत्वात् सत्यानि । तेषामन्तराणि तु त्रीणि निरायतनत्वात् ऋतानि" ।।

इन तीनों ऋतों में से प्रत्येक ऋत में आपः, वायु, सोम ये तीन-तीन भृगु रहते हैं। पानी, वायु, सोम इन तीनों का कोई केन्द्र नहीं है। तीनों ही पिण्डस्वरूप नहीं हैं, अशरीरी हैं, इसलिए तीनों ही ऋतस्थान में रहते हैं– अतः हम इन तीनों को ऋत कहने के लिए तय्यार हैं। पुद्गल-सृष्टि इन तीनों ऋतों से ही होती है अतएव प्राणी आप्य-वायव्य-सौम्य भेदेन तीन ही प्रकार के होते हैं। चूँकि पुद्गल सृष्टि के अधिष्ठाता ये तीनों ही ऋत हैं, अतएव श्रुति कहती है—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वंदेवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इदेव माव दहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" ।।[1]

इन तीनों अन्तरिक्षों में अप्-वायु-सोम तीन-तीन ऋत रहते हैं। इनमें अप् विशेष के रहने के कारण तीनों अन्तरिक्ष समुद्र कहलाते हैं। इनमें रोदसी के समुद्र का नाम 'अर्णव' है। क्रन्दसी के समुद्र का नाम 'सरस्वान्' है। संयति के समुद्र का नाम 'नभस्वान्' है। वायु-सम्बन्धेन तीनों अन्तरिक्ष आकाश नाम से व्यवहृत होते हैं संयती के आकाश का नाम 'परमाकाश' है इसी के लिए–**यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद**[2]–यह कहा जाता है। क्रन्दसी के आकाश का नाम 'पुराणाकाश' है एवं रोदसी के आकाश का नाम 'सगराकाश' (दहराकाश) है। अग्नि वायु इन्हीं अन्तरिक्षों में लोकयुक्त–छन्दादि गणदेवताओंयुक्त देवता-अव्यभिचारेण इन मण्डलों में रहा करते है।

"तेषामेकैक मृतं त्रयस्त्रयो भृगवोऽतिष्ठन्ति आपो वायवः सोमाश्चेति । अशरीरत्वाच्च ऋतसदनत्वाच्चैते त्रयोवकाश्याः समुद्रा

---

१ सामवेद पूर्व० ६।३।१०।६ । २ ऋग्वेद मं० १०।१२६।७ ।

उच्यन्ते अर्णवः सरस्वान् नभस्वांश्चेति । वायुविशेषाणां प्रतिष्ठानात् त्वेते त्रयः पृथगाकाशाः स्युः-सगरः-पुराणः परमश्चेति । एष्वबकाशेष्वमी सलोका अव्यभिचारिणो भावाः स्वभक्तिभिः सहोपतिष्ठन्ते" ॥

स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये पाँच ब्रह्मपुर होते हैं। स्वयम्भू केन्द्रस्थ जो मन-प्राण-वाङ्मय प्रजापति है-वह इन चारों-पाँचों पुरों को बना कर उनमें प्रतिष्ठित हो जाता है, अतएव तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्[1]-यह कहा जाता है। चूँकि इन पाँचों पिण्डों में ब्रह्म रहता है अतएव ये पाँचों ही ब्रह्मपुर कहलाते हैं। इन पाँचों ब्रह्मपुरों में प्रत्येक ब्रह्मपुर में पुरुष-बिभूति-पद -पुनःपद ये चार सीगे (विभाग) रहते हैं। पाँचों में प्रत्येक में चार पदार्थ रहते हैं। चूँकि कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जिसमें कि ये चारों न हों अतएव **चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**[2]-यह कहा जाता है—

"अथ स्वयम्भूः परमेष्ठी सूर्य्यः पृथिवी इति चत्वारि पञ्चमेन चन्द्रमासासह पञ्च ब्रह्म पुराणि भवन्ति। तेऽमी प्रत्येकं चातुर्विध्येन विभक्ता द्रष्टव्याः पुरुषः, विभूतिः, पदं, पुनःपदं चेति। "चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्यनुगमः श्रूयते" ॥

इनमें विभूति-पद-पुनःपद का आलम्बन सबके अन्दर रहने वाला सर्वाधिष्ठाता परापर (अक्षराक्षर) प्रकृतिविशिष्ट जो मन-प्राण-वाङ्मय अव्यय है-वह तो 'पुरुष' कहलाता है, जिसका कि स्वरूप पूर्व के प्रकरणों में विस्तृतरूपेण बतला दिया गया है।

प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ ये तीन उस अव्ययपुरुष की विभूति कहलाती हैं। इन्हीं तीनों से वह ब्रह्म सर्वत्र विभव करता है-फैलता है। इनमें 'ऋक्-साम-यजुः' का नाम प्रतिष्ठा है। अस्ति का नाम ही प्रतिष्ठा है। अस्ति का ही नाम उपलब्धि है। उपलब्धि को ही तो 'वेद' कहते हैं। प्रतिष्ठा वेद-

१ तै०उप० २।६।१। २ कौ०ब्रा० २।१।

त्रयीरूप कैसे है ? इसका विवेचन प्रतिष्ठाकृष्ण-रहस्य में कर दिया गया है। नाम-रूप-कर्म तीनों ज्योति हैं। इनका विस्तृत विवेचन ज्योतिकृष्ण-रहस्य में कर दिया गया है तथा आदान, दान (अर्पण), उत्सर्ग, भैषज्य, विकास- पाँच प्रकार के अन्न-ग्रहण के जो तरीके हैं–उन्हें 'यज्ञ' कहा जाता है, जिनका कि सूक्ष्म विवेचन सत्यकृष्ण-रहस्य में और विस्तृत विवेचन यज्ञकृष्ण-रहस्य में कर दिया गया है । हमने बताया है कि पुरुष मन-प्राण-वाङ्मय है एवं अक्षराक्षरस्वरूप परा-अपरा प्रकृतिविशिष्ट हैं। ऐसे प्रकृतिविशिष्ट पुरुष के मन-प्राण-वाक् के, विकारों से निर्म्मित जो धामच्छद (स्थानावरोधि) मूर्ति है उसे 'पद' किंवा शरीर कहा जाता है । धामच्छद वस्तु विकारक्षरों से ही उत्पन्न होती है। यज्ञक्षर का नाम धामच्छद है । ये यज्ञक्षर विकारक्षरों से ही उत्पन्न होते हैं । मेटीरियल पदार्थ में एक तेज को छोड़ कर बाकी सारे पदार्थ धामच्छद हैं अर्थात् जगह रोकने वाले हैं एवं इनमेटीरियल सारे पदार्थ अधामच्छद हैं । मन-प्राण-वाक् में वाक्-विकार धामच्छद है । मन-प्राण अधामच्छद है। पिण्ड-सृष्टि इन्हीं विकारक्षरों से होती है अतएव इन्हें 'विश्वसृट्' कहा जाता है एवं पद को आलम्बित कर के उसके तैंतीसवें अहर्गण तक वितत जो मन-प्राण-वाक् है, उसे ही पुनःपद कहते हैं। पिण्ड के बाहर तैंतीस अहर्गण तक मन-प्राण-वाक् वितत रहते हैं। तीनों में वाक् भाग उल्बण रहता है, अतएव इस पुनःपद को, महिमा-मण्डल को, 'वषट्कारमण्डल' भी कहा करते हैं। इस प्रकार पुरुष, विभूति, पद, पुनःपद से युक्त जो भुवनसंस्था-मण्डल है, वह 'वैश्वरूप्य' कहलाता है। सोलर सिस्टम का नाम ही वैश्वरूप्य है। ऐसे सोलर सिस्टम पाँच हैं। सिस्टम को 'संस्था' कहते हैं। सिस्टम संस्था शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही है कि पाँच ब्रह्मपुर हैं। पाँचों में चार-चार सीगे हैं। पाँचों ही 'वैश्वरूप्य' नाम से व्यवहृत होते हैं एवं पाँचों में दहरोत्तर सम्बन्ध है—

'तत्र सर्वावलम्बः सर्वान्तरतमोऽधिष्ठाता परापरप्रकृतिविशिष्टो मनप्राणवाङ्मयोऽव्ययः पुरुषः। अथ प्रतिष्ठाज्योतिर्यज्ञ इति त्रयी पुरुषविभूतिः। ऋक्सामयंजूषि इति त्रयं ब्रह्म प्रतिष्ठा। नामरूपंकर्म्म चेति त्रयं ज्योतिः। आदानंदावमुत्सर्गो भैषज्य

विकास इति पञ्चविधान्यन्नग्रहणकर्माणि यज्ञाः। अथ मनःप्राण-वाचां विकारैः कृता धामच्छन्मूर्तिः पदम्। पदावलम्बेनैव तु परितोऽतिदूरं विततो वाक्प्राणमनसां वितानाः पुनःपदम्। तथा चैतेन पुरुषेण विभूत्या पदपुनः पदाभ्यां चोपपन्नं भुवनसंस्थामण्डलं वैश्वरूप्यं नाम"॥

पूर्वोक्त पाँचों वैश्वरूप्यों में से प्रत्येक वैश्वरूप का आत्मा, शरीर, विभूति, महिमा, नाड़ी भेदेन दूसरे प्रकार से विवेचन किया जाता है। सारा विश्व यज्ञमय है। यज्ञ पाङ्क्त है अतएव हम प्रत्येक वैश्वरूप्य में आत्मा, शरीर, विभूति, महिमा, नाडी ये पाँच-पाँच पदार्थ बताने के लिए तय्यार हैं। इनमें परापर प्रकृतिविशिष्ट जो पुरुष है वह तो आत्मा है। आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् एतत् पञ्चकलयुक्त जो अव्यय है, वह तो पुरुष कहलाता है। इस अव्यय की एक प्रकृति होती है। इस प्रकृति में आधाभाग अमृत है एवं आधा-भाग मर्त्य है। जो मर्त्यभाग है, वह कभी नहीं बदलता। उसमें कभी विकार उत्पन्न नहीं होता, अतएव प्रकृति के इस अमृतभाग को हम अक्षर कहने के लिए तय्यार हैं। दूसरा जो मर्त्यभाग है, उससे चूँकि विकार उत्पन्न होते हैं अतएव उसे क्षर कहते हैं। प्रकृति एक है। उसकी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ये पाँच कलाएँ हैं। यह पञ्चकलयुक्ता प्रकृति मर्त्य-अमृतभाग में विभक्त है। इससे सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मादि पाँचों ही अमृत-मर्त्य भेदेन दो-दो प्रकार के हैं। जो अमृतस्वरूप ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम हैं, वे अक्षर कहलाते हैं। मर्त्य ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम क्षर कहलाते हैं। अक्षर उस अव्यय की पराप्रकृति है–क्षर अपराप्रकृति है। इस प्रकार प्रजापति अमृत मर्त्य भावेनयुक्त रहता है अतएव **अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**[1] यह कहा जाता है। इन आत्मक्षरों से विकार उत्पन्न होते हैं। आत्मक्षर वैसे ही रहते हैं। आत्मक्षर विकारस्वरूप नहीं है अतएव इनकी कलाएँ वे ही रहती हैं जो कि अक्षर की रहती है। इन पाँचों आत्मक्षरों से ही 'प्राण-आप्-वाक् अन्नाद-अन्न' ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। विकार-क्षर विकृति है–

---

१ शत०ब्रा० १०।१।३।२।

आत्मक्षर प्रकृति है। चूँकि आत्मक्षर-अक्षराविनाभूत है अतएव अक्षर को भी प्रकृति कह दिया जाता है। वास्तव में अक्षर प्रकृति नहीं है। अक्षर तो केवल निमित्त कारण है—

"तदिदमेकैकं वंश्वरूप्यं प्रकारान्तरेण पञ्चधा कृत्वा विविच्यते १. आत्मा २. शरीरम् ३. विभूतिः ४. महिमा ५. नाड़ी चेति। तत्र परापरप्रकृतिविशिष्टः पुरुष आत्मा। तथाहि—आनन्दो विज्ञानं मनः प्राणो वागिति पञ्चधातवोऽव्ययः पुरुषः। तस्य मर्त्यामृताभ्यां क्षराक्षराभ्यामेकैक शो द्विधा विभक्ताः-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रः-अग्निः-सोमः- इत्येते पञ्चभावाः प्रकृतिः। सा परापराचेति द्विविधा। ब्रह्मादयः- पञ्चधातवोऽक्षरोऽव्ययस्य परा प्रकृतिः। प्राणादीन् पञ्चविकार भावान् जनयन्तो ब्रह्मादयएव पञ्चक्षरभावा अपरा प्रकृतिः" ॥

इस प्रकार से पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर और पञ्चकल क्षर एवं सौलहवें परात्पर से युक्त जो षोडशी पुरुष है–वही प्रजापति कहलाता है–वही आत्मा कहलाता है। पन्द्रह कलाओं का विभाजक एवं आलम्बन यही सौलहवाँ परात्पर है। चन्द्रमा की तिथि क्रमानुसार यद्यपि पन्द्रह कलाएँ ही होती हैं, परन्तु अमा और प्रतिपत् के बीच का जो सन्धि स्थान है, जो पन्द्रहों कलाओं से अलग रहता है, वही चन्द्रमा की पन्द्रह कलाओं का विभाजक है। यहीं से पड़वा (एकम्) दोज (द्वितीया) तीज (तृतीया) इत्यादि कला-विभाग प्रारम्भ होता है। यही सौलहवीं कला कहलाती है। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी पन्द्रह कलाओं का विभाजक एवं आलम्बन यही षोडशी प्रजापति है–सौलहवां परात्पर है। एतद् विशिष्ट जो अव्ययाक्षरक्षर है उसी को हम 'आत्मा' कहते हैं। इसी षोडशी के लिए कहा जाता है—

"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" ॥[1]

पूर्व प्रकरण में बताया गया है कि यह आत्मा यज्ञ और षोडशी भेदेन दो प्रकार का है। इसमें आत्मक्षर युक्त जो अक्षराव्यय परात्पर समष्टि है, उसे तो 'षोडशी' कहते हैं एवं प्राणादि पञ्चयज्ञक्षर समष्टि को 'यज्ञात्मा' कहते

---

१ यजुर्वेद ८।३६।

हैं। यज्ञ ही उसका शरीर है । उसमें स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये पाँच अवयव रहते हैं। जिस प्रकार ईश्वर के शरीर के पाँच अवयव हैं— ठीक वही पाँचों अवयव जीव-शरीर में भी हैं। केवल नाम में अन्तर है। जीव शरीर में वही पाँचों—अव्यक्त-महान्-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीर हैं। स्वयम्भू का जो हिस्सा हमारे पास आता है उसका नाम 'अव्यक्त' है। परमेष्ठी का जो हिस्सा हमारे पास आता है उसका नाम 'महान्' है। सूर्य्य का जो हिस्सा हमारे पास आता है, उसका नाम 'विज्ञान' है—इसको 'बुद्धि' भी कहते हैं। चन्द्रमा का जो हिस्सा हमारे पास आता है, उसका नाम 'प्रज्ञामन' है, इन्द्रियाँ है, इन्द्रिय-मन है। अर्थात् दस इन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ सुख-दुःख-भोक्ता इन्द्रियमन एवं इन सबका अधिष्ठाता प्रज्ञामन, ये बारह चीजें चन्द्रमा से आती हैं मांस-मेदा-मज्जा इत्यादि सप्तधातु युक्त शरीर इस पृथिवी से बनता है। इस प्रकार वे ही वस्तुएँ हमारे शरीर में भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहृत होने लगती हैं। इन सबके मजमुए (समुच्चय) का नाम है—यज्ञात्मा। इस यज्ञात्मा का आलम्बन वही षोडशी है, जिसे कि हमने पुरुषप्रजापति बताया है। स्वयम्भू का नाम अव्यक्त है। यह अन्तिम यज्ञक्षर है। इसका भी आलम्बन वही षोडशीपुरुष है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुः (शरीरतः) इन्द्रियेभ्यः परं मनः"।[1]

"मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः"।[2]

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः"॥[3]

इस पुरुष आत्मा में जो कि षोडशी नाम से प्रसिद्ध है—सौलह कलाएँ रहती हैं। यज्ञ ही इस पुरुष की प्रजा है, अतएव इसे 'प्रजापति' भी कहा जाता है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"परात्परेण षोडशेन षोडशी स प्रजापतिः पुरुष आत्मा" इति।

---

१ गीता ३।४२। २ कठ उप० १।३।१०। ३ कठ उप० १।३।११।

हमने बताया है कि आत्मक्षर से–प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इस षोडशी प्रजापति के मर्त्य ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, अग्नि, सोम, इन पाँच आत्मक्षरों के जो प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न –ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं–वे पाँचों ही इन्हीं पाँचों से संपरिष्वक्त हो कर सब में सब मिल कर, पाँच, पञ्चजन हो जाते हैं। अर्थात् आत्मक्षर से उत्पन्न जो विकारक्षर हैं, वे पाँचों एक सैकिण्ड भी अलग नहीं रह पाते हैं–अपितु, उत्पन्न होने के अव्यवहितोत्तर काल में ही पाँचों, पाँचों में मिल जाते हैं। पाँचों जब पाँचों में मिल जाते हैं तो प्रत्येक का नाम पञ्चजन पड़ जाता है। प्राण में भी पाँचों हैं अतः प्राण भी 'पञ्चजन' नाम से व्यवहृत होता है। आपः में भी पाँचों हैं अतएव आपः भी 'पञ्चजन' कहलाता है–यही नाम पाँचों के हो जाते हैं। पञ्चात्मक होने से ही प्रत्येक विकारक्षर 'पञ्चजन' कहलाने लगता है। चूँकि ऐसे पञ्चात्मक विकारक्षर पाँच हैं, अतएव इन पाँचों पञ्चात्मकों को 'पञ्चजन' कहा जाता है। आत्मक्षर से उत्पन्न प्राण आदि विकारक्षर ही सर्वहुत यज्ञ द्वारा परस्पर संपरिष्वक्त हो कर पाँचों पञ्चजन कहलाने लगते हैं। यही पञ्चजन ईश्वर-शरीर में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हैं एवं जीव-शरीर में ये पाँचों क्रमशः–अव्यक्त, महान्, विज्ञान, इन्द्रियाँ, शरीर, इन नामों से व्यवहृत होने लगते हैं—

"तत्रैतेषां (आत्मक्षराणां) क्षर भागानां, प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नम् इत्येते पञ्चविकारा पञ्चभिरेतैः (विकारक्षरैरेव) संपरिष्वज्यमानाः (सर्वहुत यज्ञेन परस्परं मिलिताः) सन्तः पञ्च पञ्चजना भवन्ति" ॥

इस प्रकार पाँच प्रकार के जो-जो विकार कूट हैं, जिसे कि हम पञ्चजन कहेंगे, वे मर्त्य ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम इन पाँच के आत्मक्षर में युक्त रहते हैं। बिना आत्मक्षर के इनकी सत्ता एक मिनट भी नहीं रह सकती। पाँच आत्मक्षर हैं, जिनकी कि ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ये पाँच कलाएं हैं। इन पाँचों में वे पाँचों विकार कूट बैठे रहते हैं। पञ्चात्मक प्राण का आधार ब्रह्माक्षर है। पञ्चात्मक आपः का आधार विष्णुक्षर है। पञ्चात्मिका वाक् का आधार इन्द्रक्षर है। पञ्चात्मक अन्नाद का आधार अग्नि

भर है एवं पञ्चात्मक अन्न का आधार सोमक्षर है। पञ्चीकृतों के आलम्बन यही पाँचों अपञ्चीकृत आत्मक्षर हैं। जैसे लोहे से उत्पन्न जंग लोहे पर रहता है, दूध से उत्पन्न होने वाली मलाई दूध पर रहती है, पानी पर होने वाला फेन पानी पर ही रहता है, तथैव ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम इन पाँच आत्मक्षरों से प्रजापति की अपराप्रकृति से, मर्त्यभाग से, उत्पन्न पञ्चीकृत प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न ये पाँचों विकारकूट अपनी प्रकृति पर ही, आत्मक्षरों पर ही, प्रतिष्ठित हैं—

"तदिदं पञ्चविधं विकारकूटं पञ्चविधेऽस्मिन्नात्मक्षरे समन्वितं भवति"।

जिस प्रकार परा-प्रकृति की अर्थात् प्रजापति के मर्त्यभाग की ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र अग्नि-सोम ये पाँच कलाएँ हैं, तथैव प्रजापति के अमृत-भाग की परा-प्रकृति की अर्थात् अक्षर की भी यही पाँचों कलाएँ हैं। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि हम इस समय 'जीवाव्यय' का वर्णन कर रहे हैं। अस्तु ये पञ्च-विध जो अक्षर हैं, इसमें ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र' यह एक सयुक् है एवं 'अग्नि-सोम' यह दूसरा सयुक् है। इस प्रकार दोनों सयुकों का फिर एक सयुक् बन जाता है। इस प्रकार पाँचों अक्षर परस्पर युक्त हो जाते हैं। इस प्रकार पहले तो ये पाँचों परस्पर में युक्त होते हैं। तदनन्तर पाँचों ही उस पञ्चकल आत्मक्षर विशिष्ट जो पञ्चात्मक पञ्चजन हैं अर्थात् यज्ञक्षर हैं, उनसे युक्त हो जाता है। इस प्रकार स्वयं युक्त एवं पञ्चजनों से युक्त यह अक्षर इस जीवाव्यय को उठाए हुए है। यह जीवाव्यय **सत्य का सत्य** कहलाता है। नामरूपकर्म्मात्मक यज्ञक्षर सत्य है। यह जीवाव्यय चूँकि इनका भी सत्य है, इसी जीवात्मा के आधार पर उन पाँचों पञ्चजनों का सत्यत्व बना हुआ है, अतएव इस जीवाव्यय को हम **सत्यस्य सत्यम्**[1] कहने के लिए तय्यार हैं। इस जीवात्मा का स्वरूप पञ्चजनयुक्त अक्षर से स्फुट हो रहा है। इन्हीं के कारण आज यह अनद्धा आत्मा अद्धा बन रहा है। तात्पर्य्य यही हुआ कि पाँचों पञ्चजन आत्मक्षरों से युक्त है एवं अक्षर ने परस्पर सयुक् बन कर, इन

---

१ ऐ०आ० २।३।८।२।

पञ्चजनों से भी युक्त हो कर, उस सत्य के सत्य को अर्थात् जीवात्मा को उठा रखा है। इन्हीं से जीवात्मा अद्धा प्रतीत हो रहा है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथैते पञ्चाक्षराः परस्पर सयुजस्तैः पञ्चजनैरवियुक्ताः सन्तो यत् किञ्चित् सत्यस्य सत्यं (जीवाव्ययं) अभिसंवहन्ति" ।।

यह सत्य का सत्य अर्थात् जीवाव्यय जहाँ जा कर युक्त होता है—उस ईश्वराव्यय-पुरुष में सारे देवता नानाभाव को छोड़ कर एकत्व में अपीत हो जाते हैं। यह सारा क्रम प्रतिसंचर में होता है। प्रतिसंचरक्रम में जीवाव्यय की परा-अपरा प्रकृति पहले इसमें अपीत होती है। जीवाव्यय ईश्वराव्यय में अपीत हो जाता है। यहाँ पर आ कर सारे नामरूप के बन्धन टूट जाते हैं अतएव श्रुति कहती है—

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु। कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" ।।[1]

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ।।[2]

जीवात्मा अव्ययाक्षरक्षरमय है। क्षर अपर है। अक्षर परापर है। अव्यय पर है। इस परजीवाव्यय से भी वह ईश्वराव्यय पर है, अतएव—**परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**[3]—कहा गया है। इस प्रकार परात्पर से ईश्वराव्यय ही अभिप्रेत है, न कि 'असीम सर्वबलविशिष्ट परात्पर'। सारांश यही है कि प्रतिसंचरक्रम में सारा प्रपञ्च जीवाव्यय में मिल जाता है। जीवाव्यय उस ईश्वराव्यय में जा मिलता है। वहाँ जा कर शरीरस्थ अग्नि-वायु-आदित्यादि सारे देवता स्व-स्व नामरूप को छोड़ कर अद्वैत में परिणत हो जाते हैं—

---

१ मुण्डक उप० ३।२।७। २ मुण्डक उप० ३।२।८।
३ मुण्डक उप० ३।२।८।

"तत् सत्यस्य सत्यं यत्रानुयुज्यते-तत्राव्यये (ईश्वराव्यये) पुरुषे सर्वे देवा एकरूपं भवन्ति" ॥

जैसा कि श्रुति कहती है—

"यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियत् संवहन्ति ।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकं भवन्ति" ॥[1]

पाँचों अक्षर पहले परस्पर में मिलते हैं, एकी-भाव को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार पहले तो पञ्चविध अक्षर परस्पर मिलते हैं, बाद में स्वयं युक्त हो कर पञ्चजनों से युक्त होते हैं। इस प्रकार स्वयं युक्त हो पञ्चजनों से युक्त हो कर–जिसे उठाए हुए हैं, वही सत्य का सत्य है। बस, यह सत्य का सत्य अर्थात् जीवाव्यय जहाँ जा कर युक्त होता है, वहाँ सारे देवता एक हो जाते हैं। ईश्वराव्यय में अपीत हो जाने के बाद नानाभाव नष्ट हो जाता है। अपि च श्रुयते—

"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्" ॥[2]

श्रुति कहती है–जिसमें पाँच पाञ्चजन (पाँच यज्ञक्षर) एवं आकाश (अक्षर) प्रतिष्ठित हो रहा है, उसे ही मैं 'आत्मा' अर्थात् षोडशी पुरुष कहने के लिए तय्यार हूँ। **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**–यह सिद्धान्त है। जो अमृत ब्रह्म को पहचान जाता है, वह स्वयं अमृत बन जाता है। अतएव श्रुति कहती है—

अमृतस्वरूप जो ब्रह्म है, आत्मा है उसको जानता हुआ जो विद्वान् है वह भी अमृत ही बन जाता है 'आकाशश्च प्रतिष्ठित' में आकाश से अक्षर ही अभिप्रेत है। आलम्बन को आकाश कहते हैं। इन पाँचों यज्ञक्षरों का एवं आत्मक्षरों का आलम्बन यही अक्षर है, अतएव अक्षर के निमित्त-कारण होते हुए भी इसी आलम्बनभाव को बतलाने के लिए इसे उपादान कारण बतला दिया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

---

१ ऐ०आ० २।३।८।२ ।   २ बृहदारण्यक उप० ४।४।१७ ।

"यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति"।[1]

प्रकृत में यही कहना है कि-क्षर का आलम्बन अक्षर है अतएव हम क्षरापेक्षया अक्षर को-आकाश कह सकते हैं। इस प्रकार पञ्चजन अर्थात् क्षर, एवं आकाश अर्थात् अक्षर, जिसमें प्रतिष्ठित रहते हैं, वही अव्यय-पुरुष-आत्मा कहलाता है, यह सिद्ध हो जाता है।

"आकाश इत्यक्षराभिप्रायः। क्षराश्चाक्षराश्च यत्र प्रतितिष्ठन्ति सोऽव्यय पुरुष आत्मा"।

सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही है कि-आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् एतत् पञ्चकलायुक्त अव्यय-पुरुष है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम एतत् पञ्चकलोपेत अक्षर हैं एव इन्हीं पाँच कलाओं से युक्त क्षर हैं। इन पन्द्रह कलाओं से युक्त जो परात्पर है, वह षोडशी हो जाता है। बस, षोडशकल जो पुरुष है, उसी को 'आत्मा' समझना चाहिए। ध्यान रहे, क्षरों में केवल आत्मक्षर ही षोडशी में शामिल है।

"आनन्दो विज्ञानं मनः प्राणो वागिति पञ्चकलोऽव्ययः पुरुषः। ब्रह्मादिभिः पञ्चकलोऽक्षरः पञ्चकल एवायं क्षरः इत्येताभिः पञ्चदश कलाभिः सहितः परात्परः षोडशी भवति। सोऽयं षोडशकलः पुरुष आत्मेतिविद्यात्"॥

॥ इति आत्मस्वरूप निदर्शनम् ॥१॥

प्रत्येक वैश्वरूप्य में, आत्मा, शरीर, विभूति, महिमा, नाडी ये पाँच पदार्थ रहते हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया गया था। इन पाँचों में 'आत्मा' का स्वरूप बतला दिया गया, अब शरीर का स्वरूप बतलाते हैं।

अव्यय-अक्षर-क्षर एवं परात्पर की समष्टि का नाम आत्मा है। इसी को षोडशी कहते हैं। इसमें अव्यय-अक्षर और परात्पर तीनों तो सर्वथा सृष्टि

---

१ मुण्डक उप० २।१।१।

से अविकृत ही रहते हैं। तीनों का वैकारिक किंवा याज्ञिक-सृष्टि से सम्बन्ध रहते हुए भी कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वैकारिक-सृष्टि का जनक यही आत्मक्षर है। **तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते**[1] में तस्मात् से इसी आत्मक्षर का ग्रहण होता है। ये आत्मक्षर ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम भेदेन पाँच प्रकार के हैं। ये पाँचों ही परिणामी हैं। इनमें से सारे विकार निकला करते हैं। बस, विकुर्वाण स्वभाव से ही, ये क्षर, आत्म-विकार और यज्ञ इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। जिनसे विकार उत्पन्न होता है जो कि स्वयं अविकृत हैं, वे आत्मक्षर कहलाते हैं। इन आत्मक्षरों की गणना अविकृतत्वादेव षोडशी पुरुष में होती है एवं इनके जो पाँच विकार हैं, उनको विकार-क्षर कहा जाता है। वे आत्मक्षर इन विकारक्षरों के प्रजापति कहलाते हैं। यह सारा वैकारिक जगत् उन्हीं पाँचों आत्मक्षरों पर प्रतिष्ठित है। **कि स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस**[2] इस श्रुति के उत्तर में जो–**ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्**–कहा गया है–वह इसी क्षर के लिए कहा गया है। ब्रह्म-शब्द क्षर के लिए ही आता है। अतएव–**बहु ब्रह्मैकमक्षरम्–ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**[3]–यह कहा जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथामी क्षरा विकुर्वाणस्वाभाव्यात् त्रिविधा उपपद्यन्ते आत्मक्षरा, विकारक्षरा, यज्ञक्षराश्चेति। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्निरिति आत्मक्षराः-अधिष्ठातारः पञ्च प्रजापतयः"॥

ये पाँचों आत्मक्षर अक्षर के नामों को धारण करते हुए पाँचों अक्षरों के मर्त्यभाग ही हैं। एक प्रजापति का आधा शरीर अमृत है एवं आधा भाग मर्त्य है। बस, जो अमृत है, वही अक्षर है एवं मर्त्य क्षर है। दोनों को मिला कर एकस्वरूप है अतएव जो नाम अक्षर की कलाओं के होते हैं, वे ही आत्मक्षर कलाओं के होते हैं। अक्षर के मर्त्यभाग का नाम ही तो आत्मक्षर है, अतएव ये आत्मक्षर, अक्षर में संपरिष्वक्त हो कर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। अक्षर और क्षर दोनों अविनाभूत हैं। इनमें अक्षर सर्वथा अविकारी है एवं क्षर विकुर्वाणस्वाभाव्यात् अनवरत विकारों को उत्पन्न किया करते हैं। इस

---

१ मुण्डक उप० १।१।१९। २ ऋग्वेद मं० १०।८१।४। ३ गीता ३।१५।

आत्मक्षर से उत्पन्न जो विकारक्षर हैं वे प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न, इन नामों से व्यवहृत होते हैं। ये ही यज्ञिय विश्व की योनि हैं। इन्हीं से सारे विश्व का निर्म्माण होता है, अतएव इन्हें 'विश्वसृट्' भी कहा जाता है। ब्रह्मा का विकार प्राण है, विष्णु का विकार आप है, इन्द्र का विकार वाक् है, सोम का विकार अन्न है एवं अग्नि का विकार अन्नाद है—

"तेऽमी अक्षर सनामानोऽक्षराणामेव मर्त्या भक्तिविशेषा इष्यन्ते। अतएवैतेऽक्षरेषु संपरिष्वक्ता नित्यमवतिष्ठन्ते। विकुर्वाण स्वाभाव्यात् प्रतिक्षणस्वतो विकारानुद्गिरन्ति। ते च प्राणः, आपः, वाक्, अन्नम्, अन्नादः इति विकारक्षराः पञ्च योनयो विश्वसृजो नाम। ब्रह्मा-प्राणः। विष्णुरापः। इन्द्रोवाक्। सोमोऽन्नम्। अग्नि-रन्नादः" ॥

परन्तु ये पाँचों विकार क्षर एक सैकण्ड भी स्व-स्वरूप में नहीं रह सकते। उत्पन्न होने के साथ ही पाँचों, पाँचों में आहुत हो जाते हैं। पाँचों के पाँचों में आहुत हो जाने से पाँच यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। एक में दूसरे के मिल जाने का नाम ही यज्ञ है। चूँकि यह इसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं अतएव हम इन्हें 'यज्ञक्षर' कहने के लिए तय्यार हैं। इन पाँचों में प्रत्येक के आधे में तो वह प्रधान क्षर रहता है एव आधे में चारों रहते हैं अतएव वैशेष्यात्तुतद्वाद न्याय से ये यज्ञक्षर भी प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न नाम से ही व्यवहृत होते हैं परन्तु ब्रह्मपुरी में यद्यपि और सभी जातियाँ रहती हैं परन्तु अधिक ब्राह्मण ही रहते हैं अतएव वह 'ब्रह्मपुरी' कहलाती है। चूँकि प्राण नामक यज्ञक्षर में आधे में प्राण रहता है, आधे में चारों रहते हैं, अतएव इसका नाम भी प्राण ही हो जाता है। यही क्रम पाँचों यज्ञक्षरों में समझना चाहिए।

प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद इन पाँचों विकारक्षरों के उदर में, ये पाँचों यज्ञक्षर पैदा हुए हैं अतएव इन्हें 'पञ्चोपजन' कहा जाता है। पञ्चोपजन को परोक्षप्रिय देवता 'पञ्चजन' कहा करते हैं। ये पाँचों ही सर्वात्मक होते हैं एवं सर्वकृत होते हैं। सर्वकृत हैं अतएव सर्वात्मक हैं। इस प्रकार एक ही क्षर 'आत्म-विकार-यज्ञ' भेदेन तीन प्रकार का हो जाता है—

"पञ्चानामेषां विश्वसृजां तेष्वेव पञ्चस्वन्योन्यमाहवनात् पञ्चान्ये यज्ञक्षरा उत्पद्यन्ते । एकस्यार्द्धं परमर्द्धं चतुर्भिरितरै र्निष्पद्यते । वैशेष्यात्तु तद्वादन्यायेन ते यज्ञक्षरा अपि प्राण आपवाक्- अन्न-मन्नाद इत्येवोच्यन्ते । पञ्चसु पञ्चानामुपजननाच्चैते पञ्चजनानाम् । सर्वे सर्वात्मका भवन्तीति सर्वे कृताश्चैते भवन्ति । इत्थं त्रिविधा एते क्षराः सिद्धाः" ।।

पूर्व प्रकरण में बतलाया गया है कि आत्मा, शरीर, महिमा इन तीनों की समष्टि है—उसी को 'वैश्वरूप्य' कहते हैं । भुवन-संस्था का नाम ही 'वैश्वरूप्य' है । ऐसे वैश्वरूप्य कुल पाँच हैं । संस्था को ही पाश्चात्य-जगत् सिस्टम कहा करता है । पाश्चात्य विज्ञान की दौड़ सौरीय-सस्था तक ही है । परमेष्ठी और स्वयम्भू से अभी वे अपरिचित हैं, इसीलिए सिस्टम में उनके यहाँ 'सौरीय-संस्था' ही प्रसिद्ध है । इसी सौरीय-संस्था को वे लोग 'सोलर-सिस्टम' कह कर पुकारते हैं । परन्तु खाली सूर्य्य ही वैश्वरूप्य नहीं है अपितु, सूर्य्य के अलावा चार भुवन-संस्थाएँ और हैं । उस प्रत्येक भुवन-संस्था में आत्मा-शरीर-महिमा ये तीन वस्तु रहती हैं । तीनों के मिलितरूप का नाम ही 'वैश्वरूप्य' है । जिस षोडशी आत्मा का एवं क्षरों का पूर्व-प्रकरण में विवेचन किया है, उनमें अव्यय और अक्षर ये दोनों सर्वथा निर्लिप्त हैं । न अव्यय से सृष्टि का सम्बन्ध है । न अक्षर से सृष्टि का सम्बन्ध है । आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाङ्मय अव्यय इस सृष्टि का आलम्बन मात्र है । ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोमात्मक अक्षर इस सृष्टि का निमित्त-कारण है एवं मर्त्य ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोमात्मक आत्मक्षर सृष्टि के उपादानकारण हैं । परिणामी क्षर ही होता है अतएव हम इसे ही 'उपादान' कारण कहा करते हैं । क्षर विश्व है अतएव इसे 'अवर' कहा जाता हैं । अक्षर विश्व के छोर में हैं अतएव इसे सेतु और परावर कहा जाता है । अव्यय को विश्वातीत कहा जाता है । अक्षर किनारे पर है एवं अव्यय विश्व के बाहर है, इसका अर्थ यह मत समझ जाना कि क्षर जगत् में अव्यय और अक्षर का अभाव ही है—नहीं, अव्यय और अक्षर के बिना तो क्षर रह ही नहीं सकता । एक तृण उठाओ, वह तृण क्षर है । उसके अन्दर अक्षर है । उसके अन्दर अव्यय है । अव्यय तो

व्यापक है। भला, उसका अभाव हो ही कैसे सकता है ? अव्यय विश्व के बाहर है, इसका अर्थ यही है कि अव्यय सृष्टि में रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होने पाता। वह असंग है, आलम्बन मात्र है अतएव हम अव्यय को विश्व में व्यापकतया रहने पर भी 'विश्वातीत' कह देते हैं। एवमेव अक्षर सृष्टि का निमित्त-कारणमात्र है अतएव इसे भी हम सृष्टि से बाहर की वस्तु मानते हैं। अव्यय पुरुष कहलाता है। चूंकि अक्षर और क्षर पुरुषाविनाभूत हैं अतएव इन्हें भी 'पुरुष' कह दिया जाता है । चूंकि अव्यय क्षर और अक्षर से भी बाहर की वस्तु है, अन्तिम वस्तु है अतएव इसे 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है। जैसा कि अव्ययेश्वर भगवान् कहते हैं—

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" ॥[1]

यह अव्यय अक्षराक्षराविनाभूत रहता है। बस, इन तीनों की समष्टि का नाम ही षोडशी आत्मा है। हमने बतलाया है कि क्षर विकुर्वाणस्वभाव से आत्म, विकार, यज्ञ इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है । इन तीनों में जो आत्मक्षर है, वह तो उस षोडशी आत्मा में चला जाता है। उसी क्षर से यद्यपि विकार उत्पन्न होते हैं परन्तु वह स्वयं विकार नहीं है, अतएव उसे भी 'आत्मा' ही मान लिया जाता है । शेष बचते हैं–विकार और यज्ञक्षर। इन दोनों में जो विश्व को उत्पन्न करने वाले विकार क्षर हैं–वे उत्पन्न होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही सर्वहुत यज्ञ द्वारा पाँचों-पाँचों में मिल कर पञ्चीकृत बन जाते हैं। यही पञ्चीकृत विकार क्षर 'यज्ञ' क्षर कहलाते हैं। विकार क्षर प्रातिस्विकरूपेण शुद्धरूप से कभी भी उपलब्ध नहीं होते । ये सदा पञ्चीकृत ही रहते हैं। इस प्रकार आत्मक्षर, विकारक्षर, यज्ञक्षर इन तीनों में से बीच का दर्जा खारिज हो जाता है। इसमें आत्मक्षर षोडशी आत्मा में चला जाता है, शेष बचता है—'यज्ञक्षर'। बस, शरीर और महिमा, दोनों का निर्माण इन्हीं यज्ञक्षरों से, इन्हीं पञ्चजनों से, होता है–जो कि यज्ञक्षर स्वयम्भू,

---

१ गीता १५।१८।

परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व में हमने आत्मक्षर से सृष्टि होना बतलाया है, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो शरीर-महिमा स्वरूप वैश्वरूप्य का निर्म्माण यज्ञक्षरों से ही होता है-चूँकि यज्ञक्षरों की प्रतिष्ठा आत्मक्षर ही है। बिना आत्मक्षर के यज्ञक्षर एक सैकण्ड भी नहीं ठहर सकते, अतएव हम आत्मक्षर को भी सृष्टिकर्त्ता कह सकते हैं। सारे कथन का सारांश यही है कि आत्मा, शरीर, महिमा इन तीनों की मिलित अवस्था का नाम है 'वैश्वरूप्य'। इसमें अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर एवं परात्पर की समष्टि का नाम तो आत्मा है एवं शरीर और महिमा जिन्हें कि पद और पुनः पद भी कहा जाता है-दोनों ही 'यज्ञक्षरों' से उत्पन्न होते हैं—

'उक्तंपूर्वं-आत्मा, शरीरं, महिमा चेतित्रितयमनुसंहितं वैश्वरूप्यं भवतीति। तच्चैतास्मिन्नात्मविभागे तावदात्मक्षराणामुपसंग्रहः। विश्वसृजस्तु विकारक्षराविशुद्धरूपा न क्वचिदुपलभ्यन्ते पञ्चजनत्वे नैव तेषां सर्वत्रोपलम्भात्। तस्मादेभ्यः पञ्चजनेभ्य एवैतच्छरीरं महिमा चोत्पद्यते-इति भाव्यम्" ॥

पञ्चीकृत अतएव पञ्चजन नाम से व्यवहृत जो पाँच यज्ञक्षर हैं, जिनका कि पञ्चीकृत होने पर भी वैशेष्यात्तुतद्वादन्यायात् प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न ये ही पाँच नाम हैं। इन्हीं पाँचों यज्ञक्षरों से उत्पन्न जो पाँच चितियाँ हैं, उस चितिसमष्टि को ही 'शरीर' कहते हैं। वे पाँचों चितियाँ— १. वेदचिति २. अग्निचिति ३. भूतचिति ४. देवचिति ५. बीजचिति, इन नामों से व्यवहृत होती हैं। चिति का अर्थ है—'चुनाव'। जिसे शिल्प शास्त्रज्ञ 'चेजा' (चिनाई अर्थात् भवन-निर्माण) कहते हैं, उसे ही वैज्ञानिक लोग 'चिति' कहते हैं। चूँकि प्राणादिका चुनाव होता है, अतएव इस चुनाव को हम 'चिति' कहने के लिए तय्यार हैं। प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न की ही ये पाँच चितियाँ हैं। शरीर किस का नाम है ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है-यज्ञक्षरों का चुनाव। जैसे—ईंट पर ईंट रख कर शिल्पज्ञ एक मकान खड़ा कर देता है, ठीक इसी प्रकार वह यज्ञ-प्रजापति शिल्पक्रिया से पाँचों का चुनाव करके एक पुद्गल खड़ा कर देता है। उसी पुद्गल का नाम 'शरीर' है। कछुए के आकार का वह कश्यप प्रजापति ही शिल्प द्वारा शरीर का

निम्र्माण करता है । हमारा सम्बन्ध सूर्य्य से है । सूर्य्य के केन्द्र में बैठा हुआ जो यज्ञ प्रजापति है, वही हमारा निम्र्माण करता है । रोदसी त्रिलोकी का अधिष्ठाता प्राणमय सौरप्रजापति है । अतएव सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[१]–नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः[२]–प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः[३]–यह कहा जाता है । रोदसी-त्रिलोकी में व्याप्त इस प्रजापति का यदि हम स्वरूप देखना चाहें तो हमें किसी निरावरण प्रान्त में चले जाना चाहिए । जहाँ पर कि बड़ा लम्बा-चौड़ा वृक्ष-पर्वतादि रहित मैदान हो । उसके बीच में खड़े हो कर यदि हम चारों ओर दृष्टि-प्रसार करेंगे तो हमें क्षितिज से आकाश मिला हुआ दिखलाई पड़ेगा । बस, यह फोटो बिल्कुल कछुए के आकार का होगा । कछुए का पृष्ठ-भाग ढक्कन के बतौर (अनुसार) गोल होता है । अधोभाग चपटा (समतल) होता है । वही स्वरूप इस रोदसी का है । क्षितिज से मिला हुआ गोल ढक्कन ऊपर का हिस्सा है एवं आदर्शोदरवत् सम धरातल युक्त पृथिवी उसका पृष्ठ-भाग है । इसी कर्म्म से, द्यावा पृथिवी से, जिसका कि अधिष्ठाता यही कश्यप प्रजापति है, संसार का निम्र्माण होता है । चूँकि कछुए के आकार के तुल्य उसकी अपनी संस्था है, अतएव उसे कश्यप कहा जाता है । इसी कश्यप-प्रजापति का, कूर्म्म का, स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"कूर्म्ममुपदधाति । रसो वै कूर्म्मो रसमेवैतदुपदधाति यो वै स एषां लोकानामप्सु प्रविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत् स एष कूर्मस्तमेवैतदुपदधाति यावानु वै रसस्तावानात्मा । स एष इमऽएव लोकाः । तस्य यदधरं कपाल अयं स लोकः । तत् प्रतिष्ठितमिव भवति । प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकः । अथ यदुत्तरं साद्यौः । तद्व्यवगृहीतान्तमिव भवति । व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौः । अथ यदन्तरा तदन्तरिक्षम् । स एष इमऽएव लोकाः" ।।[४]

कहना प्रकृत में यही है कि संसार में जो शिल्प दिखलाई पड़ रही है, वह इसी कश्यप-प्रजापति की महिमा है । इसी कारीगर ने प्राण, आप, वाक्,

---

१ ऋग्वेद म० १।११५।१ । २ ऋग्वेद मं० ७।६३।४ ।
३ प्रश्न उप० १।८ । ४ शत०ब्रा० ७।५।१।१–२ ।

अन्नाद, अन्न-स्वरूप ईटों का चुनाव करके शरीरस्वरूप मकान खड़ा कर रखा है। उस कारीगर की जब इच्छा होती है तो यह मकान बन जाता है। वह चाहता है तभी यह ढह जाता है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते हैं —

"येभिः शिल्पैः पप्रथानामदृंहत् । येभिर्द्यामभ्यपिंशत्प्रजापतिः । येभिर्वाचं विश्वरूपां समव्ययत् । तेनेममग्न इह वर्चसा समङ्ग्धि यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनावत् । इन्द्रियावत्पुष्कलं चित्रभानु । यस्मिन्त्सूर्या अर्पिताः सप्त साकम् । तस्मिन्राजानमधिविश्रयेमम्" ।।[1]

कछुए के आकार के समान होने के कारण इसे कश्यप कहा जाता है निरुक्तकार भगवान् यास्क ने इसे 'पश्यक' शब्द से व्यवहृत किया है। यही प्रजापति सारे ब्रह्माण्ड को देख रहा है । इसकी दृष्टि से कोई भी छुपा हुआ नहीं है, अतएव इसे 'पश्यक' कहा जाता है। निरुक्त के क्रम से 'क' 'प' का विपर्यास हो जाने से पश्यक ही कश्यप हो जाता है । जैसा कि यास्क-मुनि कहते हैं—

प्रकृत में इस सारे प्रपञ्च से हमें यही बतलाना है कि प्राण-आप-वाक् अन्नाद-अन्न से होने वाली जो वेद-अग्नि-भूत-देव-बीज चितियाँ हैं, इनकी समष्टि का नाम ही शरीर है—

"तत्रैतेभ्यः पञ्चजनेभ्यः (पञ्चयज्ञअरेभ्यः) कृताः पञ्चचितयः शरीरमात्मनो जायते १. वेदचितिः २. अग्निचितिः ३. भूतचितिः ४. देवचितिः ५. बीजचितिः" ।

अथ वेदचिति निरूपणम्

इन पाँचों चितियों में सर्वप्रथम वेदाचिति का ही स्वरूप बतलाते हैं । यह वेद–छन्द, वितान, रस–भेदेन तीन प्रकार का है । एक वेद–छन्दोवेद कहलाता है, एक वितानवेद कहलाता है, एक रसवेद कहलाता है। इन तीनों वेदों

---

१ तैत्ति०ब्रा० २।७।१५।२-३ ।

में से शरीर को बनाने वाला, पुद्गल को बनाने वाला, छन्दोवेद है। पिण्ड-सृष्टि छन्दोवेद से होती है।

ऋक्-यजुः-साम का नाम वेद है। वेद का ही नाम प्रतिष्ठा है। वेद-प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो कर ही प्रजापति सृष्टि का निर्म्माण करते हैं। हमने बतलाया है कि इसी सर्वज्ञ प्रजापति से अर्थात् यज्ञप्रजापति से सर्वप्रथम प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ ये तीन वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। अतएव—

"यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" ॥[1]

ब्रह्म प्रतिष्ठा का नाम है। नामरूप ज्योति को कहते हैं। अन्न यज्ञ को कहते हैं। इन तीनों में जो प्रतिष्ठा है—वह वेद कहलाता है। वेद का नाम ही प्रतिष्ठा है। 'अस्ति' को ही प्रतिष्ठा कहते हैं। प्रतिष्ठा का अर्थ है—ठहराव। इसी ठहराव का अभिनय 'अस्ति' शब्द से किया जाता है। घड़ा है, कपड़ा है, सूर्य्य है, चन्द्रमा है, यह गौ है, अश्व है उसी का नाम ठहराव है। यदि ठहराव न होता, प्रतिष्ठा न होती, तो 'है' का प्रयोग ही नहीं किया जा सकता था। प्रतिष्ठित वस्तु के लिए ही 'अस्ति' का प्रयोग होता है तो बस, इससे सिद्ध हो जाता है कि इस प्रतिष्ठा का नाम ही 'अस्ति' है। इस अस्ति का जन्म अर्थात् प्रतिष्ठा का जन्म उसी सर्वज्ञ मन, प्राण, वाङ्मय प्रजापति से होता है, अतएव अस्ति को भी मन-प्राण-वाङ्मय कहने के लिए तय्यार हैं। मन-प्राण-वाक् की समष्टि का नाम ही 'अस्ति' है। जिसमें मन-प्राण-वाक् नहीं होता उसके लिए 'अस्ति' का प्रयोग ही नहीं होता। 'घड़ा है', मुझ को यह ज्ञान हो रहा है। घड़ा मेरे ज्ञान का विषय बन रहा है। सजातीय वस्तु का सजातीय वस्तु के साथ ही सम्बन्ध होता है। मेरा मन घड़े को पकड़ लेता है, अतएव मानना पड़ता है कि उसमें अवश्य ही मन है। यदि उसमें मन न होता तो घड़े पर मेरा मन करता ही नहीं। एवमेव घड़ा कुर्वद्रूप भी है। घड़े में मन-प्राण-वाक् तीनों हैं। तभी 'अस्ति' व्यवहार होता है। 'अस्ति'

१ मुण्डक उप० १।१।६।

व्यवहार के कारण ये तीनों हैं। मन-प्राण-वाक् तीनों में जो वाक् है, उसी से चूंकि पाँचों भूत उत्पन्न होते हैं अतएव वाक् से पाँचों भूतों का ग्रहण है। घड़ा भूत है अर्थात् वाक्स्वरूप है। वाक् बिना प्राण के नहीं रह सकती। प्राण बिना मन के नहीं रह सकता। तीनों अविनाभूत हैं। इन सारे विषयों का विस्तृत विवेचन चूँकि 'सत्यकृष्ण-रहस्य' में कर दिया गया है, अतएव प्रकृत में इस विषय में हमें अधिक कुछ नहीं कहना। कहना केवल इतना ही ही है कि 'अस्ति' इस व्यवहार का कारण मन-प्राण-वाक् समष्टि है। **मनप्राणवाचां संघातः सत्ता**—यही सत्ता का लक्षण है। यदि आप से कोई प्रश्न करे कि 'अस्ति' किसे कहते हैं? तो आपको स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिए 'मन-प्राण-वाक्' की समष्टि का नाम ही 'अस्ति' है। 'अस्ति' का नाम ही प्रतिष्ठा है। इसी को ब्रह्म कहते हैं। इसी को वेद कहते हैं। ऋक्-साम-यजुः का नाम ही वेद है। इसमें मन से सामवेद का प्रादुर्भाव होता है। साम पृष्ठ का नाम है, कृति का, आकार का, नाम है—जैसा कि हम अनुपद में ही बतलाने वाले हैं। यह साम मन की तरह अपना कोई नियत स्वरूप नहीं रखता। ऋक् के अनुसार इसे अपना स्वरूप बनाना पड़ता है। विषय ही मन का आयतन कायम करते हैं। मन का अपना कोई नियत आयतन नहीं है। अपितु, जिस विषय से मन का सम्बन्ध होता हैं, मन तदाकाराकारित हो कर उतना ही बडा बन जाता है। वही मन पर्वत से सम्बद्ध हो पर्वताकार हो जाता है। वही मन तिल से युक्त हो तिल जितना बन जाता है। बस, ठीक इसी प्रकार साम की ऋक् के आधार पर ही स्थिति रहती है। ऋक् कहते हैं—मूर्त्ति को। साम कहते हैं—मण्डल को। ऐसी अवस्था में यदि मूर्त्ति छोटी होती है तो साम अर्थात् मण्डल भी छोटा हो जाता है। यदि मूर्त्ति बडी है तो साम भी बडा हो जाता है। चूँकि साम की स्थिति ठीक मन के आकार की है, अतएव हम साम को मन से उत्पन्न हुआ बतला सकते हैं—जिसका कि विस्तृत विवेचन सत्यकृष्ण-रहस्य में कर दिया गया है। मन के बाद है—प्राण। प्राण से यजुः उत्पन्न होता है। प्राण गतिस्वरूप है। उधर यजुः भी गतिस्वरूप ही है एवं वाक् से ऋक् उत्पन्न होती है। ऋक् मूर्त्ति का नाम है। मूर्त्ति वाक् से ही तो बनती है। इस प्रकार हम इस प्रतिष्ठा को, मन-प्राण-वाक् समष्टि को, 'वेद' समष्टि कह सकते हैं। यह जो वेद है अर्थात् प्रतिष्ठा है—वह स्वयम्भू-

परमेष्ठी-सूर्य्य एवं पृथिवी भेदेन चार स्वरूपों में परिणत हो जाता है। स्वयम्भू वेद को **ब्रह्मनिःश्वसित** वेद कहते हैं। परमेष्ठीमण्डल के वेद को **ब्रह्मस्वेद** वेद कहते हैं, सूर्य्य के वेद को **गायत्री-मात्रिक** वेद कहते हैं एवं पार्थिव वेद को **यज्ञ-मात्रिक** वेद कहते हैं। चारों वेदों में से हम केवल **गायत्री-मात्रिक** वेद का ही स्वरूप बतलाएँगे क्योंकि हमारा निम्मर्ाण सूर्य्य से ही होता है एवं सूर्य्य के वेद का ही नाम **गायत्री-मात्रिक** है। यह गायत्री-मात्रिक वेद छन्द, वितान, रस भेदेन तीन प्रकार का है। छन्द-वेद का नाम ऋग्वेद है। रस-वेद का नाम यजुर्वेद है एवं वितान-वेद का नाम सामवेद है। ये तीनों ही वेद ऋक्, यजुः, साम भेदेन तीन-तीन प्रकार के हैं। ऋग्वेद भी (छन्दोवेद भी) ऋक्-यजुः-साम भेदेन तीन प्रकार का है। यजुर्वेद भी (रसवेद भी) ऋक्-यजुः-साम भेदेन तीन प्रकार का है। इस प्रकार गायत्री-मात्रिकस्वरूप—छन्द-वितान-रस तीनों ऋक्-यजुः-साम भेदेन तीन-तीन प्रकार के हैं—

१–छन्दोवेद (ऋचः)–ऋग्-यजुः-साम भेदेन त्रिविधः–वाङ्मयः।
२–वितान-वेद (सामानि)–ऋग्-यजुः-साम भेदेन त्रिविधः–मनोमयः।
३–रसवेद (यजूंषि)–ऋग्-यजुः-साम भेदेन त्रिविधः–प्राणमयः।

इन तीनों में से सर्वप्रथम हम केवल छन्दोवेद का ही स्वरूप बतलाएँगे। किसी भी पदार्थ की सीमा कायम करने वाला जो प्राण है उसे ही छन्द कहते हैं। अवच्छेदक को ही छन्द कहते हैं। परिमाण का नाम ही छन्द है। आयतन को ही छन्द कहते हैं। इसी परिमाण को, इसी आयतन को, वैदिक परिभाषा में **वयोनाध** कहते हैं। इस परिमाण के बीच में जो वस्तु भरी रहती है उसी का नाम 'वय' है। वय और वयोनाध दोनों अविनाभूत हैं। यह वयोनाध तीन स्वरूपों में परिणत रहता है। एक वस्तु को उठा लीजिए। उसका जो आयतन है, आकार है, उसी को वयोनाध कहते हैं। इसी वयोनाध का नाम छन्दोवेद है। इस छन्दोवेद में ऋक्-साम-यजुः तीनों बैठे हुए हैं। वस्तु का जो पृष्ठ-भाग है, उसे तो साम कहते हैं एवं केन्द्र से सम्बन्ध रखने वाला व्यास ऋक् कहलाता है एवं इस व्यास और पृष्ठ के बीच में जो वस्तु भरी हुई है, उसी का नाम यजुः है। यजुः ही मुख्य वस्तु है। व्यास और पृष्ठ दोनों यजुः के आधार पर रहते हैं। व्यास को ही वैदिक-परिभाषा

में **विष्कम्भ** कहते हैं एवं इसी को पाश्चात्य-वैज्ञानिक **डायमीटर** कहते हैं। यद्यपि संसार के यच्चयावत् पदार्थों में ये विष्कम्भ, पृष्ठ और वय रहते हैं तथापि इसका स्वरूप स्पष्टतया गोल वस्तु में ही समझ में आ सकता है। एक गोले को सामने रख लीजिए। उस गोले का जो केन्द्र है उसे काटती हुई जो चारों ओर रेखा जाती है, उसी को हम व्यास कहेंगे। व्यास मोटाई को कहते हैं। वस्तु की मोटाई केन्द्र बिन्दु के आधार से नापी जाती है। इस मोटाई की जो केन्द्रीय रेखा है उसी का नाम 'विष्कम्भ' है एवं उसकी जो गोलाई है, उसी का नाम पृष्ठ्य है। यह व्यास और गोलाई दोनों ही कल्पित रेखा मात्र है। गोलाई और डायमीटर कोई वस्तु नहीं है अपितु, रेखा मात्र है। इनमें जो पदार्थ भरा रहता है, उसी का नाम वय है। जिसका व्यास और जिसका मण्डल होता है वही **वय** कहलाता है। व्यास और पृष्ठ दोनों वयोनाध के उदर में आ जाते हैं। बाकी बचता है 'वय'। बस, हम जो कुछ देखते हैं, वह सब वय और वयोनाध ही है। वय और वयोनाध के अलावा और तीसरी वस्तु है ही नहीं। वास्तव में सच है कि आकार और आकार में रहने वाले पदार्थ के अलावा और है ही क्या? इस वय और वयोनाध की समष्टि को ही 'वयुन' कहा जाता है। साध्य ब्रह्मा से भी पहले प्रचलित जो दशवाद थे, उनमें पाँचवाँ आवरणवाद सारे विश्व को 'वयुन' मय ही मानता था। इस वयुन का विस्तृत विवेचन श्री गुरु-प्रणीत दशवादान्तर्गत **आवरण-वाद** में देखना चाहिए। इन पूर्वोक्त पृष्ठ्य, विष्कम्भ और वय को साम-ऋक्-यजुः कहते हैं। पृष्ठ्य का नाम साम है। वस्तु के अवसान का नाम ही साम है। 'म' प्रत्यय से 'अवसाम' बना हुआ है। निरुक्त के क्रम से–'अव' का 'साइलेण्ट' (ध्वनि-लोप) हो जाता है, अतएव खाली 'साम' रह जाता है। वस्तु का जो पृष्ठ है, वह उसका अन्तिम अवसान है, अतएव हम **वस्तुनः अवसानम्**–इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसे अवश्य ही साम कह सकते हैं एवं केन्द्र को काटती हुई जो रेखा है, जिसे कि विष्कम्भ कहते हैं, उसी का नाम ऋक् है। प्रत्यक्ष इसी ऋक् का हुआ करता है–जैसा कि वितानवेद में बत-लाया जाएगा। बस, इस साम और ऋक् से अर्थात् पृष्ठ और विष्कम्भ से जो घिरा रहता है, उसी का नाम यजुः है। यजुः ही असली वस्तु है। यजुः से ही नई-नई वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, अतएव यजुः को पुरुष कहा जाता है। यजुः

के बदलते ही ऋक्-साम बदल जाते हैं। ऋक्-साम यजुः के अधीन रहते हैं। यजुः ही ऋक् और साम का अभिनेता है अर्थात् हाकिम है। यदि पदार्थ छोटा होता है तो ऋक्-साम भी छोटे हो जाते हैं। यदि यजुः ही नहीं रहता है तो ऋक्-साम सर्वथा उच्छिन्न हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"ते यदा स्तुवते यदानुशंसति। अथास्मिन्नेतं वषट्कृते जुहोति। तदेनमेष रसोऽप्येति। न वै महाव्रतमिदंस्तुतंशेतऽइति। पश्यन्ति नो महदिदमुक्थमित्यग्निमेव पश्यन्त्यात्मा ह्यग्निस्तदेनमेतेऽउभे रसो भूत्वापीत ऋक्च साम च तदुभेऽऋक्सामे यजुरपीतः" ॥[1]

श्रुति कहती है–**ऋक्सामे यजुरपीतः**। यजुः में ऋक्साम ओत-प्रोत रहते हैं। यदि यजुः न रहे तो ऋक्साम उसी समय गायब हो जाएँ।

वस्तु के बाहर की जो आउटलाइन है, उसी का नाम 'साम' है एवं इस पृष्ठ को काटती हुई, केन्द्र का स्पर्श करती हुई रेखा ऋक् है तथा जो इन दोनों में बीच की वस्तु है, वही यजुः है। साम मन है। ऋक् वाक् है एवं यजुः प्राण है। बस, इस मन-प्राण-वाक् समष्टि का नाम ही 'छन्दोवेद' है। प्रत्येक वस्तु का जो डायमीटर है, उसको यदि तिगुना कर दिया जाता है तो वह उस वस्तु का साम बन जाता है। वस्तु की गोलाई डायमीटर से तिगुनी होती है। डायमीटर का नाम 'ऋक्' है। गोलाई का नाम 'साम' है। वह उस ऋक् से तिगुना होता है, अतएव त्र्यृचं साम कहा जाता है। वस्तुतः देखा जाए तो ऋक् ही साम बन जाता है, जैसा कि हम वितानवेद में बतलाने वाले हैं। ऋक् ही साम में है। जैसा क्रम इस प्राकृतिक ऋक्-यजुः-साम में है, महर्षियों ने वही क्रम इस ऋक्-साम-यजुः की पुस्तक में रखा है। यहाँ भी वही ऋक्-मन्त्र यदि तिगुना करके बोला जाता है तो 'साम' हो जाता है। अस्तु, इस विषय का विस्तृत विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना होगा। यहाँ पर केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि जो पिण्ड पदार्थ हैं वे सब छन्दोवेद हैं। शरीर इसी छन्दोवेद से बना हुआ है। मर्त्य-पिण्डस्वरूप का

---

१ शत० ब्रा० १०।१।१।६।

निर्म्माता मन-प्राण-वाङ्मय यही छन्दोवेद है। हमने बतलाया है कि वस्तु का जो केन्द्र होता है, ऋक् उसे काट कर अपना स्वरूप बनाता है। ऋक् का मूल स्थान केन्द्र है। चारों ओर जाने वाला व्यास केन्द्र को कभी नहीं छोड़ेगा, अतएव उस ऋक् को 'महदुक्थ' भी कहा जाता है। वहीं से अर्थात् केन्द्र से ही सारे वेदों का उत्तान होता है अतएव इसे 'महदुक्थ' कहा जाता है। केन्द्रीय शक्ति का नाम प्रजापति है। जैसा कि श्रुति कहती है—

**"प्रजापतिश्चरति गर्भेअन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"।**[1]

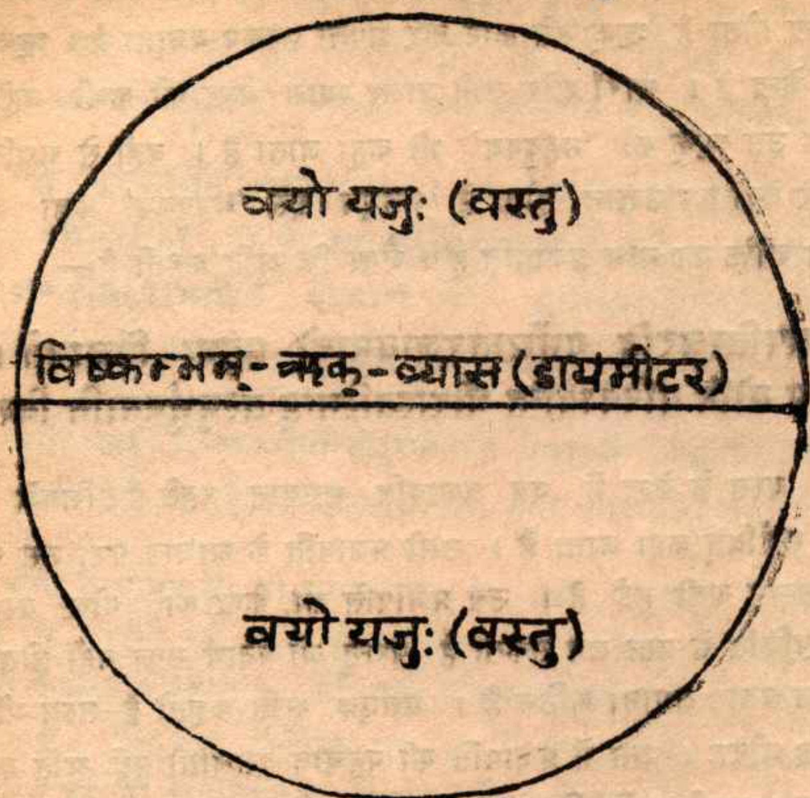
वस्तु के केन्द्र में, वह प्रजापति भगवान् रहते हैं जिनके लिए—**यः सर्वज्ञः सर्ववित्** कहा जाता है। उसी प्रजापति के आधार पर, उस पदार्थ की भुवन-संस्था खड़ी हुई है। उस प्रजापति का, केन्द्र का, गोल वस्तु में तो त्रिकोणमिति से पता लग सकता है परन्तु जो पदार्थ गोल नहीं होता, उसके केन्द्र का पता लगाना कठिन है। अतएव श्रुति कहती है—**तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः**। अन्त में प्रजापति की पहचान बतलाती हुई श्रुति कहती है—**तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा**। केन्द्र पर पहुँच कर एक पतली से पतली सुई भी बड़े से बड़े बोझ को उठा सकती है। इसी केन्द्रीय प्रजापति से ये ऋक्-यजुः-साम निकलते हैं। ऋक्-यजुः-साम तीनों वेद उसी केन्द्रीय प्रजापति के निःश्वास हैं अतएव यह कहा जाता है—

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः। अस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि"।।[2]

यह वेदचिति उस प्राण यज्ञक्षर से सम्बन्ध रखती है, जो कि ब्रह्मा का विकार है। प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न इन पाँचों में से प्राणचिति का नाम ही छन्दोवेदचिति है। वह आत्मप्रजापति इसी वेद-प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हो कर आगे की अग्नि आदि चितियाँ करने में समर्थ होता हैं।

---

१ यजुर्वेद ३१।१६। २ बृहद् आ०उप० २।४।१०।



बस, उपलभ्यमान वस्तु की वय, विष्कम्भ और पृष्ठ ये तीनों उपलब्धियाँ हैं। जिसे उपलब्धि कहते हैं, ज्ञान कहते हैं, वे ये ही तीन हैं। मन-प्राण-वाक् का नाम ही अस्ति है एवं घटोऽस्ति-पटोऽस्ति यह जो ज्ञान है, इसी का नाम उपलब्धि है। 'अस्ति' ही तो उपलब्धि है। उपलब्धि 'अस्ति' से पृथक् थोड़े ही है? इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति"॥[1]

---

१ कठ॰उप॰ २।३।१२–१३।

बस, इस उपलब्धि का नाम ही वेद है। यह वेद ब्रह्माक्षर से उत्पन्न प्राणमय समझना चाहिए। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"छन्दोवेद, वितानवेद, रसवेद भेदाद् वेदत्रैविध्ये प्रकृते छन्दोवेदः शरीरारम्भको द्रष्टव्यः। शरीरस्योपलब्धिर्वेदः। अस्तीति-भाति रूपलब्धिः। वयो यजुः, विष्कम्भं, पृष्ठं चेति। द्वावेतौवयोनाधौ ऋक्सामे। एतदेवत्रितयं वयुनमुपलभ्यमानस्योपलब्धिः। स वेदः। स प्राणो ब्रह्मा ॥१॥

प्रकृत में तीनों वेदों में से भाष्यकार ने यद्यपि छन्दोवेद का ही स्वरूप बतलाया है तथापि विस्तृतरूप से नहीं तो सूक्ष्मरूप से वितान और रसवेद के स्वरूप को जान लेना अनुचित न होगा।

संसार के यच्चयावत् पदार्थ अग्नीषोमात्मक होते हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें अग्नि और सोम न हो अतएव **अग्नीषोमात्मकं जगत्**[1]—यह कहा जाता है। यह अग्नि चित्य, चितेनिधे भेदेन दो प्रकार का होता है। चित्य अग्नि को मर्त्याग्नि कहते हैं, चितेनिधे अग्नि को अमृताग्नि कहते हैं। पिण्ड में रहने वाली जो अग्नि है, उसे मर्त्याग्नि कहते हैं, जो कि छन्दोवेद से सम्बन्ध रखता है एवं पिण्ड के बाहर महिमामण्डल में रहने वाला अग्नि अमृताग्नि कहलाता है। बस, वितानवेद का इसी अमृताग्नि से सम्बन्ध है। इस अमृताग्नि का और सोम का पिण्ड से बाहर जो एक मण्डल बनता है, इसी को 'वषट्कार' मण्डल कहते हैं, जिसका कि स्वरूप **परमेष्ठीकृष्ण-रहस्य** में बतलाया जाएगा। इस वषट्कार-मण्डल में तैंतीस (३३) अहर्गण होते हैं। तैंतीस अहर्गण में साढ़े सौलह अहर्गण तक अग्नि रहता है, बाद में तैंतीस तक सोम रहता है। इस सप्तदशस्थ अग्नि में उस सोम की आहुति होती रहती है, अतएव इसे आहवनीय कहा जाता है। सोम जिस समय इस अग्नि में आहुत होता है तो यह अग्नि प्रज्वलित हो कर इक्कीसवें (२१) अहर्गण तक चला

---

१ रामपूर्व०उप० ३।६।

जाता है। इस प्रकार अग्नि की सत्ता इक्कीस (२१) तक मान ली जाती है। इक्कीस के ऊपर सोम रहता है। यह सोम भास्वर और दिक् भेदेन दो प्रकार का है। सत्ताईस (२७) तक भास्वर सोम रहता है, तैंतीस तक दिक् सोम रहता है। पिण्ड से इक्कीस तक रहने वाला जो अग्नि है, वह घन-तरल-विरल अवस्था में परिणत हो कर अग्नि, वायु, आदित्य नाम धारण कर लेता है। एक ही अग्नि घनावस्था में अग्नि कहलाने लगता है, तरलावस्था से वायु कहलाने लगता है एवं विरलावस्था से आदित्य कहलाने लगता है। इस प्रकार तैंतीस तक वितत रहने वाले वषट्कार मण्डल में इक्कीस तक तीन अग्नि रहते हैं एवं तैंतीस तक दो सोम रहते हैं। यह सोम इस अमृताग्नि में अनवरत आहुत होता रहता है। सोम का जितना हिस्सा इस अग्नि में आहुत होता रहता है, उतना ही अग्नि बनता रहता है। बस, अग्नि-स्वरूप में परिणत हो कर वह फिर वापस निकल जाता है। इस प्रकार से प्रतिक्षण बाहर से अग्नि में सोम आहुत होता रहता है एवं आहुत-सोम अन्नाद बन कर बाहर जाया करता है। इसी आदान-विसर्ग क्रिया से सारा विश्व व्याप्त हो रहा है। बस, ऋक्-यजुः-साम इस २१ (इक्कीसवें) अहर्गण तक वितत रहते हैं, अतएव इस महिमामण्डल के वेद को वितानवेद कहा जाता है। छन्दोवेद-निरूपण में बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु में व्यास (विष्कम्भ) अवश्य ही होता है। यह विष्कम्भ केन्द्र से ऊपर की ओर छोटा होता जाता है। पिण्ड के केन्द्र से बाहर की ओर वर्गमूल के कारण यह व्यास तीन-तीन बिन्दु कम होता जाता है। किसी वस्तु को जब हम देखते हैं तो जितना आकार समीप से उस वस्तु का दीखता है, दूर जाने पर उसका उतना आकार नहीं दिखता है। ज्यों-ज्यों वस्तु से हम दूर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों वह वस्तु छोटी होती जाती है। अन्ततोगत्वा वह वस्तु हमें एक बिन्दु-मात्र दिखलाई देने लगती है। उत्तरोत्तर वस्तु के छोटी दिखलाई देने का एकमात्र कारण उत्तरोत्तर ऋक् का छोटा होना ही है। तात्पर्य यही है कि दो लाख परमाणु जो कि अब तक एक प्रदेश मात्र स्थान में थे, उनको आगे के महिमा-मण्डल के बड़े होने के कारण फैलना पड़ता है। उन्हीं को दो हाथ जितने स्थान में पसरना (प्रसारित होना) पड़ता है। ज्यों-ज्यों मण्डल बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों वे परमाणु उत्तरोत्तर विशकलित होते जाते हैं, अतएव जिस परमाणु-घनता के कारण हमें वह पदार्थ समीप से

बड़ा दीखता था, अब वही आगे जा कर ऋक् के कम हो जाने के कारण (क्यों कि जितना स्थान पृथिवी के पिण्ड में परमाणुओं ने घेर रखा था, उससे चौगुने स्थान को अब उन्हीं परमाणुओं ने घेर रखा है, अतएव स्थान की विपुलता से जिस स्थान पर हम खड़े रहते हैं, उतनी दूर के परमाणु ही हमारे पास आ पाते हैं) उत्तरोत्तर पदार्थ छोटे दिखलाई पड़ने लगते हैं। हम बतला रहे थे कि कोई स्थान ऐसा आता है जहाँ पर उस वस्तु का दिखना सर्वथा बन्द हो जाता है। बस, उस अन्तिम पिण्ड से जो एक मण्डल बनेगा वही 'साम' कहलाता है। जिस प्रकार ऋङ्-मण्डल से बाहर की ओर सूच्यग्र-माप रहता है एव मण्डलान्त पर जा कर एक बिन्दु मात्र रह जाता है; ठीक इसके विपरीत बाहर से केन्द्राभिमुख छोटा होता हुआ जो मण्डल है, वही 'साम' कहलाता है। ये ऋक् और साम सर्वथा स्थिर हैं। इन दोनों के बीच में व्याप्त रहने वाला जो वायुमय एवं वाङ्मय प्राण है-वही यजुः है। इससे सिद्ध हो जाता है कि केन्द्र से बाहर की ओर उत्तरोत्तर छोटी होने वाली जो विष्कम्भ है—वह ऋक् है एवं बाहर से भीतर की ओर उत्तरोत्तर छोटे होने वाले मण्डल साम हैं। इन दोनों में वितत प्राण 'यजुः' है। ऋक् अग्नि की घनावस्था से उत्पन्न होता है, साम विरलावस्था से उत्पन्न होता है एवं यजुः तरलावस्था से उत्पन्न होता है, घनावस्था को अग्नि कहते हैं, तरलावस्था को वायु कहते हैं एवं विरलावस्था को आदित्य कहते हैं। इन्हीं तीनों से तीन वेद उत्पन्न होते हैं। तैंतीस वाले वषट्कार-मण्डल में इक्कीस तक तो अग्नि रहता है एवं तैंतीस तक सोम रहता है, यह हम पूर्व में बतला आए हैं। इसमें जो अग्नि है—उसकी तीनों अवस्थाओं से ऋक्-साम-यजुः ये तीन वेद उत्पन्न होते हैं एवं सोम से अथर्ववेद उत्पन्न होता है। जिस प्रकार अग्निवेद, तीन प्रकार का है उसी प्रकार यह सोमवेद अर्थात् अथर्ववेद भी भास्वर, दिक् भेदेन दो प्रकार का है। इसमें सत्ताईस अहर्गण तक तो अथर्वाङ्गिरस रहता है एवं तैंतीस तक घोराङ्गिरस रहता है। प्रकृति में दोनों सोम मिले हुए हैं एवं तीनों अलग-अलग हैं अतएव यहाँ भी इसी प्राकृतिक-रहस्य को समझाने के लिए अग्निवेद के तीन हिस्से कर दिए गये हैं एवं अथर्ववेद को एक ही रखा है।

प्रसङ्गागत इतना और समझ लेना चाहिए कि त्रिवृत्-स्तोम तक अग्नि रहता है इसे ही 'पृथिवीलोक' कहते हैं, पञ्चदशस्तोम तक वायु रहता है इसे

'अन्तरिक्षलोक' कहते हैं। एकविंशस्तोम तक आदित्य रहते हैं, इसे 'द्युलोक' कहते हैं एवं दोनों सोमों को मिला कर चौथा 'आपोलोक' कहा जाता है। प्रकृति में दोनों मिले हुए हैं अतएव महर्षि दोनों को मिला कर ही बतलाते हैं। इसी के लिए–अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः[1] यह कहा जाता है। बस, इस प्रकार महिमा में यह वितान-वेद रहता है। इसी वेदविज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"प्रजापतिस्तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । प्राणादेवेमं लोकं प्रावृहत् । अपानादन्तरिक्षलोकं । व्यानादमुं लोकम् । स एतांस्त्रीं-ल्लोकानभ्यतप्यत । सोऽग्निमेवास्माल्लोकादसृजत । वायुमन्तरिक्ष लोकात् । आदित्यं दिवः । स एतानि त्रीणि ज्योतींष्यभ्यतप्यत । सोऽग्निरेवर्चोऽसृजत । वायोर्यजूंषि । आदित्यात् सामानि च इति" ।।

इसी श्रुति के आधार से तत्त्ववेत्ता भगवान् मनु कहते हैं—

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थम् ऋग्यजुःसामलक्षणम्–इति" ।।[2]

यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि प्रत्यक्ष हमें इस वितान-वेद का ही होता है। छन्दोवेद स्पृश्य है। वितान वेद दृश्य है। हमें पिण्ड नहीं दीखा करता अपितु, उसकी महिमा दीखा करती है। तीसरा है–रसवेद। यह रसवेद इस छन्द और वितान दोनों का आलम्बन है, जिसका स्वरूप आगे के प्रकरण में बतलाया जाएगा।

छन्दोवेद

१. ऋक्—विष्कम्भ, व्यास,डायमिटर २. साम – पृष्ठ (अवसान) ३. यजुः—पदार्थ (केन्द्र-बिन्दु)	मर्त्यपिण्ड-सम्बन्धी छन्दोवेद

१ कौ०ब्रा० १८।२। २ मनुस्मृति १।२३।

बितानवेद

१. ऋक्--उत्तरोत्तरह्रस्वीभवन्तो विष्कम्भा ऋचः । ⎫ अमृतमण्डल
२. साम--उत्तरोत्तरवृद्धिमन्ति मण्डलानि सामानि । ⎬ सम्बन्धी
३. यजुः--तदन्तर्गतानि(सर्वतो विसारि) गच्छन्ति ⎪ वितानवेद ।
वाङ्मयप्राणानि यजूंषि । ⎭

।। इति वेदचिति निरूपणम् ।।

अथ भूतचिति निरूपणम्

वेदचिति का स्वरूप बतला दिया गया । अब क्रमप्राप्त 'भूतचिति' का स्वरूप बतलाते हैं । हमारे शरीर में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ, इन तीनों का रस आता है । कुछ पृथिवी की, कुछ सूर्य्य की और कुछ दोनों के बीच की, इस प्रकार तीनों की वस्तु ले कर संसार के यच्चयावद् प्राणियों के शरीर का निर्माण होता है । पृथिवी भी भूत है, अन्तरिक्ष भी भूत है, सूर्य्य अर्थात् तेज भी भूत है । इनसे होने वाला जो चुनाव का सीगा (विभाग) है, उसे ही हम **भूतचिति** कहते हैं । इनमें पृथिवी-भूत से तो १. त्वचा, २. रस, ३. असृक्, ४. मांस, ५. मेदा, ६. अस्थि, ७. मज्जा, ८. शुक्र, ये धातु बनते हैं । त्वचा से शुक्र तक सारे पदार्थ पार्थिव समझने चाहिए । इस शुक्र के बाद है—**ओज** । हम जो अन्न खाते हैं उसमें सोम रहता है अतएव अन्न को सोम का विकार माना जाता है । यह सोम ही अन्न द्वारा हमारे उदर में जा कर रसासृक् आदि क्रमिक धारा से शुक्र बन जाता है । 'फिल्टर' (छनाई) होते-होते वह सोम शुक्र बन जाता है । जब उसमें से पार्थिवभाग एकदम निकल जाता है एवं अन्तरिक्ष का वायुमात्र रह जाता है तो वह 'ओज' कहलाने लगता है । वायु-मिश्रित सोम का नाम ही ओज है । इसका रंग कुछ पीतिमा लिए हुए होता है । चूँकि ओज में वायु रहता है, वायु अन्तरिक्ष की वस्तु है अतएव तत्सम्बन्धेन हम इसे **आन्तरिक्ष्य** कह सकते हैं । वायु के रहने के कारण ओज बिल्कुल हल्का बन जाता है अतएव जिस मनुष्य में जितना अधिक ओज होता है, वह उतना ही अधिक फुर्तीला बन जाता है । ओजस्वी-मनुष्य का शरीर बिल्कुल हल्का रहता है । हवा की तरह उसके शरीर में स्फूर्ति रहती है । जिसमें ओज की मात्रा जितनी कम होती है वह उतना अधिक सुस्त और

अकर्मण्य होता है। प्रकृत में कहना सिर्फ यही है कि ओज अन्तरिक्ष की वस्तु है। जब इस सोम में से वायु का हिस्सा भी निकल जाता है तो शुद्ध सोम रह जाता है–यही मन कहलाता है। यह द्युलोक की वस्तु है। सोम पृथिवी की बस्तु नहीं है अपितु, द्युलोक की वस्तु है अतएव **दिवि वै सोम आसीत्। अथेह देवाः**[1] यह कहा जाता है। सोम में चूँकि पार्थिव-आकर्षण जरा सा भी नहीं है अतएव तत्स्वरूप हमारा मन बहुत ही चञ्चल होता है। हमारा मन करोड़ों कोसों को एक सैकण्ड में नाप लेता है। पूर्वक्षण में मन कलकत्ते में था, इसके दूसरे ही क्षण में विलायत में है। सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते मन सदा अपना व्यापार किया करता है। इसी मन का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" ॥[2]

कहना यही है कि यह मन द्युलोक की वस्तु है। इनमें सबसे पहले मन है। मन के बाद प्राण है। प्राण पर आगे का चुनाव (चिति) है। ओज पर शुक्र का चुनाव है। शुक्र के ऊपर मज्जा का चुनाव है। मज्जा पर अस्थि का चुनाव है। अस्थि पर मेदा का चुनाव है। मेदा पर मांस का चुनाव है। मांस पर असृक् का चुनाव है। असृक् पर त्वचा का चुनाव है। बस, इसी का नाम शरीर है। चूँकि यह चुनाव भौतिक-पदार्थों का है, मेटिरियल वस्तुओं का है अतएव इसे हम भूतचिति कहने के लिए तय्यार है। जिस प्रकार अस्मदादिससंज्ञ जीवों में यह भूतचिति होती है, उसी प्रकार वनस्पत्योषधि इत्यादि में भी भूतचिति होती है। जो भी वस्तुएँ हमारे में हैं, वे ही वृक्षादि में हैं; केवल नामरूप में भेद है।

वृक्ष के जो पत्ते हैं, वे इसके लोम हैं। लोम के विषय में थोड़ा सा विसंवाद है। यह वृक्ष आत्मग्राम कहलाता है। तात्पर्य यही है कि वृक्ष का

---

१ शत०ब्रा० ३।१।४।१। २ यजुर्वेद ३४।१ व ६।

प्रत्येक पत्ता अपना-अपना प्रातिस्विक आत्मा रखता है, जिस आत्मा के कर्म्म-भोग की वृक्ष को खबर भी नहीं होती। वृक्ष में से नया पत्ता उत्पन्न होता है, थोड़े दिन में बड़ा हो जाता है एवं पतझड़ में (शिशिरकाले) गिर जाता है। वृक्ष का इसके कर्म्म-भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार टहनियों की भी आत्मा स्वतन्त्र है। चूंकि अनेक आत्माओं की समष्टि का नाम वृक्ष है अतएव वृक्ष को **आत्मग्राम** कहा जाता है। बतलाना इससे यही है कि चूंकि पत्ता स्वातन्त्र्येण कर्म्मभोग करता है अतएव वह इस वृक्ष का लोम नहीं बन सकता।

वृक्षत्वेन वृक्ष की जो एक आत्मा है जो कि सारे वृक्ष में व्याप्त है, इसकी अपेक्षा से ही 'पत्तों को' लोम कह दिया जाता है एवं वृक्ष की जो उत्पाटिका है—वक्कल को उपाड़ने (उत्पाटित करने, छीलने) के बाद काष्ठ के ऊपर की जो झिल्ली है, जो कि लकड़ी का उत्पाटन कर देता है अर्थात् जिसके उखाड़ने से काष्ठांश कट जाता है वही उत्पाटिका है, इसे ही त्वचा कहा जाता है। इसके भीतर जो एक चूने वाला रस है उसे ही 'असृक्' कहते हैं। इसी रस को 'गोंद' कहा जाता है एवं उत्पाटिका के ऊपर जो एक वल्कल रहता है उसे चर्म्म कहा जाता है। मनुष्यों के केवल त्वचा ही होती है, उनके चर्म्म नहीं होता अतएव वे **उत्कायचर्म्मा** कहलाते हैं। इसी चर्म्म-सम्पत्ति के लिए ही श्रुति ने मनुष्यों को वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अथ वासः परिधत्ते सर्वत्वायैव। स्वामेवास्मिन्नेतत्त्वचं दधाति। या ह वाऽइयं गोस्त्वक्पुरुषे हैषाग्रऽस। ते देवा अब्रुवन्। गौर्वाऽइदं सर्वं बिभर्ति हन्त येयं पुरुषे त्वगदव्येतां दधाम अवच्छितो वै पुरुषः। तस्मादस्य यत्रैव क्व च कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति। तस्मिन्नेतां त्वचमदधुर्वास एव। तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्ति-इति" ॥[1]

---

१ शत०ब्रा० ३।१।२।१३ से १६।

इसका वैज्ञानिक रहस्य हमारे लिखे हुए **शतपथानुवाद** में देखना चाहिए। प्रकृत में हमें केवल इतना कहना है कि हमारे तन में चर्म्म नहीं होता एवं वृक्ष गौ आदि में होता है। वृक्ष के जो एक सरिला नाम का पदार्थ है, उसके ऊपर का जो शक्कर है, जिसका कि प्रत्यक्ष शीशम इत्यादि की लकड़ी में होता है, वही इस वृक्ष का माँस है एवं जो हमारे शरीर में स्नायु (स्नु-नसें) हैं–वृक्ष में वही स्नायु नार (नाल) नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं नारों द्वारा रस का संचार होता रहता हैं एवं वृक्ष के ठीक बीचों-बीच तो सरिला नाम का अति कठिन पदार्थ है वही इसकी अस्थि है एवं भीतर की मींगी, मज्जास्थानीय है। इस प्रकार जो वस्तुएँ, जो धातु, मनुष्य में हैं–वे की वे ही, इस वृक्ष में मौजूद हैं। महाराजा जनक ने एक समय भारतवर्ष के सारे ब्राह्मणों को बुलाया। बुला कर उन्होंने निश्चय करना चाहा कि इन सब में सब से श्रेष्ठ कौन है ? इसके लिए उन्होंने हजार गौ दक्षिणा में नियत कर कहा कि हे पूज्य महर्षियो ! जो आप में सब से श्रेष्ठ हो, वही इनका अधिकारी है।

जनक महाराज की सभा में शतपथब्राह्मण के कर्त्ता भगवान् याज्ञवल्क्य भी पधारे थे। उन्होंने अपने शिष्य से कहा कि 'ये सब गाएँ अपनी हैं। अपने होते इन्हें और कोई नहीं ले सकता। यह कह कर सहस्र गायें अपने अधीन कर लीं। इस पर अन्य महर्षि बिगड़ उठे। उन्होंने कहा याज्ञवल्क्य ! जब तक तुम हमारे प्रश्नों का उत्तर न दोगे, तब-तक इन्हें नहीं ले सकते। याज्ञवल्क्य ने कहा–बहुत अच्छा, आप लोग प्रश्न कीजिए, मैं यथासाध्य उन के उत्तर देने की कोशिश करूँगा। आखिर सारे महर्षियों ने क्रमक्रम से प्रश्न किए हैं और याज्ञवल्क्य ने उन सब का समुचित उत्तर दिया है। जब सब का समाधान हो गया तो अन्त में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि महर्षियो ! आपने जो प्रश्न मुझ से पूछे थे, उनका उत्तर मैं दे चुका, अब आप कृपा कर मेरे भी दो-चार प्रश्नों का उत्तर दीजिए। यह कह कर याज्ञवल्क्य ने उन सब से प्रश्न किया कि जब कि वृक्ष और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् जो वस्तुएँ वृक्ष में हैं, वे ही मनुष्य में हैं अपितु, मनुष्य में कुछ अधिक हैं, तो फिर क्या कारण है कि वृक्ष को काट दिया जाता है तो वह वापस बढ़ जाता है एवं काटने पर भी मनुष्य नहीं बढ़ता ? इसी प्रश्न का उपपादन करती हुई श्रुति कहती है—

"अथ याज्ञवल्क्य होवाच, ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत। यो वः कामयते तं वः पृच्छामि, सर्वान् वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः। तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ" ॥[1]

"यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः।
तस्मात् तदा तृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात्॥

मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥

यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान् मूलात् प्ररोहति" ॥[2]

इसका विस्तृत-विवेचन संशयवादानुवाद में देखना चाहिए प्रकृत में इस प्रपञ्च से हमें सिर्फ यही बतलाना है कि जो वस्तुएँ, जो पदार्थ, जो भूत-चितियाँ, हमारी देह में हैं–वे ही वृक्षादि में समझनी चाहिए। इन भूतचितियों का उपपादक केवल पानी ही है। पानी से ही सारे भूत उत्पन्न होते हैं। भौतिक-सृष्टि में सबसे पहले पानी ही उत्पन्न होता है, अतएव भगवान् मनु कहते हैं–

"सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" ॥[3]

अतएव सर्वमापोमयं जगत्[4]–यह कहा जाता है। शरीर का निर्म्माण पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश इन पाँचों भूतों से होता है। इन सब

---

१ बृहद् आ०उप० ३।९।२७। २ बृहद् आ०उप० ३।९।२८।
३ मनुस्मृति १।८। ४ महाभारत।

में प्रधान वायुमय पारमेष्ठ्य आपोमण्डल ही है। उसी पानी से अर्थात् पारमेष्ठ्य वायु से अग्नि उत्पन्न होता है। अग्नि से स्थूल पानी उत्पन्न होता है उससे पृथिवी उत्पन्न होती है। इससे हमारे शरीर का निर्म्माण होता है। उत्पत्ति में यद्यपि पाँचों भूत भी रहते हैं तथापि चूँकि पानी का हिस्सा ज्यादा रहता है अतएव शरीर की उत्पत्ति पानी से ही बतलाई जाती है। अतएव-त्र्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात्-यह कहा जाता है, अतएव-**पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**[1]-यह कहा जाता है। सारे भूतों में पानी ही प्रधान है। १-अग्नि में जब देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते हैं तो उससे सोम उत्पन्न होता है २-सोम की आहुति से पानी उत्पन्न होता है। ३-पानी की आहुति से अन्न उत्पन्न होता है। ४-अन्नाहुति से वीर्य्य उत्पन्न होता है। ५-वीर्य्य से पुरुष उत्पन्न होता है। इस प्रकार पाँचवीं आहुति में पानी से पुरुष उत्पन्न होता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतोदेवा देवानां रेतो वर्षम्। वर्षस्य रेत ओषधय ओषधीनां रेतोऽन्नम्। अन्नस्य रेतो रेतो रेतसो रेतः प्रजाः प्रजानां रेतो हृदयम्। हृदयस्य रेतो मनः। मनसो रेतो वाक्। वाचो रेतः कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः। स इरामयो यद्धीरामयस्तस्माद्धिरण्मयः" ॥[2]

विषुवत्-वृत्त से हमारा निर्म्माण होता है। जिसे कर्क्कटा लाइन (रेखा) कहा जाता है, जिसे कि ज्योतिषी **अहोरात्र वृत्त** कहते हैं; उसी से हमारा निर्म्माण होता है। यह विष्वद्-वृत्त ३६० अंश का होता है। इसमें एक सौ अस्सी १८० अंश पृथिवी के अधोभाग में, हम से परोक्ष में रहते हैं एवं १८० अंश हमारी ओर रहते हैं। चूँकि हमारा निर्म्माण इस आधे विष्वद् वृत्त से ही होता है अतएव हम अर्द्धेन्द्र कहलाते हैं। ईश्वर गोल (पूर्ण) है पूर्णेन्द्र है, हम अर्द्धेन्द्र हैं—

**"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" ॥[3]**

---

१ छा०उप० ५।६।१। २ ऐ०आ० २।१।३। ३ गीता १३।१३।

यही उसका स्वरूप है। उस ईश्वर प्रजापति से ही–जिसे कि कश्यपाकारत्वेन हम कश्यप प्रजापति भी कह सकते हैं, आधे-भाग से हमारा निर्म्माण होता है। यज्ञ पूर्णेश्वर प्राप्ति के लिए किया जाता है। हम आधे हैं अतएव पूर्ण से मिलने के लिए, पूर्ण बनने के लिए, यज्ञ में स्त्री को शामिल करना पड़ता है। निरावरण प्रान्त में खड़े रहने पर आकाश की जो स्थिति रहती है, वह ठीक कछुए के आकार की है; अतएव इसे हम **कश्यप-प्रजापति** कहते हैं, जिस का कि स्वरूप पूर्व में बतला दिया गया है। इस सूर्य्य कश्यप-प्रजापति से पूर्वोक्त विराट् उत्पन्न होते हैं। इन दसों की समष्टि का नाम ही शरीर किंवा ब्रह्मलोक है। शरीरपिण्ड का निर्म्माण कर–**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**[1] के अनुसार वह प्रजापति 'हृत्' केन्द्र में बैठ जाता है अतएव शरीर को ब्रह्मलोक कहा जाता है। इन दसों में सब से पहले ब्रह्म-प्रजापति है जिसे कि हम सूर्य्य, किंवा कश्यप-प्रजापति कहेंगे। इस कश्यप (सूर्य्य)–प्रजापति के 'वीर्य्य' से तैंतीस देवता उत्पन्न होते हैं, जो कि वसुरुद्रादित्यादि नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सौर-देवताओं से वृष्टि होती है। सूर्य्य-स्थित प्राणदेवता हरवक्त पानी को ऊपर खींचा करते हैं। पानी का यह आकर्षण लगभग साढ़े-सात महिने हुआ करता है। आकर्षण द्वारा पृथिवी में से पानी आ-आ कर आकाश में इकट्ठा होता रहता है। जब पूरी तरह भर जाता है एवं सूर्य्य-दक्षिणायन में आता है तो आकाश में भरा हुआ पानी वायु द्वारा नीचे डाल दिया जाता है। वायु ही वृष्टि का अधिष्ठाता है। वायु ही पानी अपने में रखता है एवं वायु ही बरसाता है। यदि गतिशील वायु न हो तो एक बूदँ भी पानी की न पड़े। इसीलिए कहा जाता है—

"अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति। मरुतः सृष्टां नयन्ति। यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्तते। अथ वर्षति।[2] अपिच वायुर्वै वृष्ट्या ईशे" ॥[3]

इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

---

१ तै०उप० २।६।१। २ तै०सं० २।४।१०।२। ३ तै०सं० २।४।८।१।

"न सूर्य्यो न च नक्षत्रं न चन्द्रस्तत्र कारणम् ।
वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुरेव प्रवर्षति" ।।[१]

"सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भुवन्ति विश्वतः ।।
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते" ।।[२]

लक्षणैकचक्षुष्कों के लिए हमारे ख्याल से सूर्य्य देवताओं से वृष्टि होने में पूर्वोक्त प्रमाण पर्य्याप्त होंगे । कहना यही है कि सौर-देवताओं के रेत से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं एवं औषधियों के रेत से अन्न (औषधिफल) उत्पन्न होता है एवं अन्न के रेत से वीर्य्य पैदा होता है । इस रेत के रेत की योनि-स्थित आग्नेय असृक् में जब आहुति डाली जाती है तो उस से प्रजा उत्पन्न होती है । वीर्य्य से थोड़े समय बाद मांस-पिण्ड-स्वरूप प्रजा बन जाती है, जिसे कि कलल कहते हैं । इस कलल में केन्द्र कायम हो जाता है । निरायतन वस्तु में सेन्टर नहीं होता । जब तक वीर्य्य से प्रजा नहीं बनी थी, तब तक वह ऋत ही था । परन्तु पिण्ड में परिणत होते ही इसमें केन्द्र हो जाता है । इसीलिए **प्रजानाम् रेतो हृदयम्** यह कहा गया है । इस हृदय-रेत से मन उत्पन्न होता है जो कि प्रज्ञान नाम से प्रसिद्ध है । केन्द्र के कायम होते ही इस प्रजा में एक अशनाया बल उत्पन्न होता है–जिसे कि भूख कहते हैं । यह अशनाया जहाँ से आती है उस केन्द्र-शक्ति का नाम ही मन है । इसीलिए **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**[3] यह कहा जाता है । इस मन से वाक् उत्पन्न होती है । वाक् भूत को कहते हैं । जब मन में इच्छा-शक्ति उत्पन्न हो जाती है तो वह माता की नाभि से जुड़ी हुई अपनी नाभि द्वारा अपने में अन्न ले-ले कर उससे अन्य भूत बनाने लगता है । इसी अभिप्राय से **मनसो रेतोवाक्** यह कहा गया है । तदनन्तर आई हुई वाक् से, माता की

---

१ द्रष्टव्य पं० मधुसूदन ओझा कृत 'कादम्बिनी' नामक ग्रन्थ में गर्भप्रसवकाल श्लोक सं० २५ ।

२ ऋग्वेद मं० १।१६४।३६ व ४७ । ३ ऋग्वेद मं० १०।१२६।४ ।

नाभि द्वारा आए हुए अन्न से, **कर्म्म उत्पन्न** होता है। आगत में–अन्न में एक ऐसी क्रिया होने लगती है जिससे हाथ-पाँव इत्यादि बनने लगते हैं। इस प्रकार दसवें पदार्थ पर जा कर निर्म्माण-प्रक्रिया समाप्त होती है। इरा पृथिवी के रस का नाम है। चूँकि यह शरीर पृथिवी के रेत से अर्थात् अन्न से बना है अतएव इसे **इरामय** कहते हैं। तात्पर्य्यं इस का यही है कि भगवान् कश्यप-प्रजापति, आग्नेयत्वात् हिरण्मय कहलाते हैं। इसी हिरण्मय से, कश्यप प्रजापति से, चूँकि पृथिवी का इरारस बनता है एवं इसी इरा से यह शरीर बनता है अतः शरीर वास्तव में उस हिरण्मय कश्यप-प्रजापति से ही बना हुआ है–यह समानता दिखलाने के लिए शरीर को इरामय न कह कर हिरण्मय कह दिया जाता है। बस, **अथातो रेतसः सृष्टिः**[1]–इस श्रुति का यही तात्पर्य्य है। प्रसङ्गागत अस्थि-मांसादि का निर्म्माण-क्रम भी समझ लेना चाहिए। रेत से श्लेष्मा बनती है। श्लेष्मा से रस बनता है। रस से शोणित बनता है। शोणित से मांस बनता है। मास से मेद बनता है। मेद से स्राव बनता है। स्राव से अस्थि बनती है। अस्थि से मज्जा बनती है। मज्जा से फिर रेत उत्पन्न होता है। बस, यही रेत योनि में सिक्त हो कर इसी पूर्व क्रमानुसार पुरुष बन जाता है। योनि में सिक्त रेत एक अहोरात्र में कलल बनता है। पाँच अहोरात्र में बुद्बुद बनता है। सात अहोरात्र में पेशी बनती है। चौदह अहोरात्र में अर्बुद बनता है। इस प्रकार होते–होते पच्चीस अहोरात्र में वह वीर्य्य घनावस्था में परिणत होता हुआ प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है एवं एक महिने में कठिनता (दृढ़ता) आती है। दो महिने में मस्तक-चिह्न बनते हैं। तीन महिने में ग्रीवा बनती है। चार महिने में त्वचा-निर्म्माण होता है। पाँचवें महिने में नख-रोमादि निर्म्माण होता है। छठे महिने में मुख, नासिका, चक्षु, श्रोत्र उत्पन्न हो जाते हैं। साँतवें में गति-सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। आठवें महिने में सौर-प्राण पर बुद्धि का आविर्भाव हो जाता है एवं नवें महिने में सर्वाङ्ग सम्पूर्ण हो जाता है। यहाँ तक उसे पूर्वजन्मादि का स्मरण रहता है। दसवें महिने में पैदा होने के साथ वायु के स्पर्श होते ही वह पूर्व जन्मवृत्त को एकान्ततः भूल जाता है। बस, यही शरीर-निर्म्माण-प्रक्रिया है, अतएव कहा जाता है —

---

१ ऐ०आ० २।१।३।

"ततश्च दशमेमासे प्रजायते। जातश्च वायुनास्पृष्टस्तन्न स्मरति जन्म मरणमन्ते च शुभाशुभं-कर्म्म एतच्छरीरस्य प्रामाण्यम्" ॥

श्रुतिसिद्ध इसी प्रजोत्पत्ति क्रम को बतलाते हुए स्मृतिकार कहते हैं–

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" ॥[1]

सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि पुरुषोत्पत्ति पाँचों भूतों से होती है एवं ये पाँचों ही **अद्‌भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्** श्रुति प्रमाण से और विज्ञान से आपोमय मानने पड़ते हैं। ईश्वर शरीर में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी ये पाँच अवयव हैं। पाँचों के ही प्राण-आप्-वाक्-अन्नाद-अन्न ये पाँच नाम हैं। इन्हीं पाँचों को पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश कहते हैं। इन्हीं पाँचों के चुनाव से हमारा शरीर बना हुआ है। १–इस शरीर में जितना कठिन हिस्सा है, वह सब पार्थिवभाग है। २–द्रव-भाग पानी है। ३–गर्मी तेज है। ४–श्वास-प्रश्वास वायु है। ५–पोल (शून्य) आकाश है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्‌गुणयोगयुक्तम्। तत्सप्तधातु त्रिमलं द्वियोनि चतुर्विधाहारमयं शरीरम्। भवति पञ्चात्मकमिति कस्मात्, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमित्यस्मिन्पञ्चात्मके शरीरे। का पृथिवी का आपः किं तेजः को वायुः किमाकाशम्। तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी यद् द्रवं ता आपो यदुष्णं तत्तेजो यत्संचरति स वायुः यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते" ॥[2]

हमने बतलाया था कि शुक्र तक पृथिवी है तथा ओज तक अन्तरिक्ष है एवं मन द्युलोक-स्थानीय है। इन तीनों को ही प्राणमात्रा, प्रज्ञामात्रा, भूतमात्रा शब्द से व्यवहृत किया जाता है। शुक्र तक भूतमात्रा है, ओज प्राणमात्रा है एवं मन प्रज्ञामात्रा है। इसमें मन पहले है, उस पर ओज है, अर्थात् प्राणमात्रा है। इस पर भूतमात्रा का अर्थात् वाक् का चुनाव होता है। प्राण पर ही चुनाव होता है। विधरण-शक्ति प्राण में ही है। मन असंग है,

१ मनुस्मृति ३।७६। २ गर्भ उप० १।

विकासी है, ज्ञानरूप है अतएव उस पर चुनाव नहीं हो सकता । चुनाव प्राण पर ही होता है । भूतापरपर्य्यायकवाक् का प्राण पर ही चुनाव होता है अतएव श्रुति कहती है—

"किं हितं किमुपहितम् इति । प्राण एव हितम् (आलम्बनम्) वागुपहितम् । प्राणे हीयं वागुपेव हिता" ॥[1]

मन, प्राण, वाक् कहो अथवा मन, ओज, शुक्रादि कहो, चाहे पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ कहो—एक ही बात है। इस मन, प्राण, वाक् के लिहाज से **स वा एष आत्मा वाङ्मयः-प्राणमयो मनोमयः**[2] कहा जाता है । बस, यही दूसरी भूतचिति है । जैसे वेदचिति के अधिष्ठाता प्राण क्षरमय ब्रह्मा थे—तद्वत् इस भूतचिति के अधिष्ठाता आप क्षरमय विष्णु समझने चाहिए । बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"अथ पृथिवीजलतेजोवायुवाकाशैः पञ्चमहाभूतैरुपजायमानास्त्वगसृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्रादय उत्पादिका, किं-सासपर्णपुष्पफलप्रभृतयो वा भौतिका विकारा भूतचितिः । ता आपो विष्णुः" ॥

॥ इति भूतचिति विवेचनम् ॥

अथ अग्निचिति विवेचनम्

ब्रह्मैवेदं सर्वम्[3] श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि सारा संसार ब्रह्म से ही बना हुआ है । वास्तव में मन-प्राण-वाङ्मय स्वयम्भू ब्रह्म से ही सब कुछ बना हुआ है । इस स्वयम्भू ब्रह्म के जगत् को उत्पन्न करने वाले भृगु और अङ्गिरा नाम के दो प्राण हैं । स्वयम्भू स्वयं प्राणमय है । इसमें जो भृगु और अङ्गिरा प्राण हैं, उन्हीं से सारे विश्व का निर्म्माण होता है । चूँकि अङ्गिरा और भृगु से ही सारे विश्व का निर्म्माण होता है, अतएव हम अपनी अपेक्षा से इन्हीं

---

१ शत०ब्रा० ६।१।२।१५ । २ बृहद् आ०उप० १।५।३ ।
३ नृसिंह उत्तर०उप० ७ ।

दोनों को **'ब्रह्म'** कहेंगे। **इस प्रकार भृगुब्रह्म और अङ्गिराब्रह्म को ही जग-न्निर्म्माता समझना चाहिए।** आपः-वायु-सोम, इन तीनों का नाम भृगु है तथा अग्नि-वायु-आदित्य का नाम अङ्गिरा है। बस, इन्हीं छहों से अथवा दो से सारा विश्व बना हुआ है। हमें अग्निचिति का स्वरूप बतलाना है अतएव भृगु के विषय में कुछ न कह कर केवल अङ्गिरा का ही स्वरूप बतलाएँगे। यह अङ्गिराब्रह्म ऋषि, पितर, देवता इन तीन स्वरूपों में परिणत रहता है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द रहित जो एक मौलिक अङ्गिराप्राण है, उसे तो **अङ्गिरा ऋषि** कहते हैं। यह स्वयम्भू-मण्डल की वस्तु है एवं ऐसे-ऐसे अनन्त ऋषि प्राणों के संयोग से जो एक तीसरा यौगिक-प्राण उत्पन्न होता है—वही अङ्गिरापितर कहलाता है। यह अङ्गिरापितर परमेष्ठी की वस्तु है एवं ऐसे-ऐसे अनन्त पितर प्राणों का योग होता है तो उस से 'देव' प्राण उत्पन्न होता है—वह अङ्गिरा देवता कहलाता है। इस प्रकार एक ही अङ्गिरा अवस्था विशेष के कारण ऋषि, पितर, देवता—ये तीन स्वरूप धारण कर लेता है। ऋषि स्वयम्भू की वस्तु है, पितर परमेष्ठी की वस्तु है एवं देवता सूर्य्य की वस्तु है। हमारी अग्निचिति का सम्बन्ध इसी सूर्य्य-अङ्गिरा से है। इसी सौर अङ्गिरा को 'अग्नि' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यह जो सौर अङ्गिरा है, जिसे कि हम 'अग्नि' शब्द से ही व्यवहृत करेंगे, सावित्र-गायत्र-भेदेन दो प्रकार का है। एक ही सौराग्नि अवस्था-विशेष के कारण सावित्राग्नि और गायत्राग्नि, इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाती है। पृथिवी में भी अग्नि का वास है परन्तु यह पार्थिवाग्नि सूर्य्य की ही वस्तु है। सूर्य्य से अलग हट कर ही यह अग्नि पृथिवी में घुसा (प्रविष्ट) हुआ है। प्रवर्ग्यभाग इस पृथिवी का अग्नि बना हुआ है। तो बस, सूर्य्य में रहने वाला सूर्य्य से बद्ध जो सौराग्नि है, उसे तो हम सूर्य्यसम्बन्धात् **सावित्राग्नि** कहेंगे एवं सूर्य्य की जो अग्नि सूर्य्य से अलग जहाँ तक पृथिवी की वस्तु बन गया है—उसे गौरूपापृथिवीसम्बन्धेन **गायत्राग्नि** कहते हैं एवं पृथिवी और सूर्य्य के बीच का अन्तरिक्ष-स्थानीय जो एक विशेष प्रकार का अग्नि है—उसे **आन्तरिक्ष्याग्नि** ही कहते हैं। यह अग्नि नक्षत्राग्नि एवं धिष्ण्याग्नि नाम से भी व्यवहृत होता है। नक्षत्रों में जो अग्नि है वह भी अङ्गिरा का ही अग्नि है। इस प्रकार एक ही अङ्गिराग्नि अवस्था विशेष से सावित्र, गायत्र, नाक्षत्रिक—इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है।

सावित्र सूर्य्य की वस्तु है, द्युलोक की वस्तु है। गायत्र पृथिवी की वस्तु है। नाक्षत्रिक अन्तरिक्ष की वस्तु है। इन्हीं तीनों को यज्ञ-परिभाषानुसार गार्हपत्य, आहवनीय और धिष्ण्य नाम से पुकारा जाता है। गार्हपत्य पार्थिव-गायत्राग्नि का नाम है, आहवनीय द्युलोकस्थ सावित्राग्नि का नाम एवं आन्तरिक्ष्याग्नि का नाम धिष्ण्य है। गार्हपत्य अग्नि एक है। आन्तरिक्ष अग्नि आठ हैं। आहवनीय एक है। बस, इस प्रकार एक ही अङ्गिरा की—एक ही अग्नि की-ये दस कलाएँ हो जाती हैं। दस की संख्या का नाम विराट् है एवं आग्नेयप्राण का नाम देवता है। ये देवता तीनों लोकों में इसी विराट् के द्वारा, अग्नि की दस कलाओं के द्वारा, व्याप्त हो रहे हैं, अतएव श्रुति कहती है—

"अथ यत्त्रिंशद्विक्रमा पश्चाद्भवति। त्रिंशदक्षरा वै विराड्विराजा वै देवा अस्मिल्लोके प्रत्यतिष्ठम्" ॥[1]

पृथिवी-अन्तरिक्ष और द्यौ—ये तीन विश्व कहलाते हैं। इन तीनों के अधिष्ठाता पूर्वोक्त तीनों अग्नि हैं। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि पार्थिव-गायत्राग्नि को घनत्वात् 'अग्नि' कहते हैं। आन्तरिक्ष्य अग्नि को तरलावस्थापेक्षया 'वायु' कहते हैं। सौर-प्राणाग्नि को 'आदित्य' कहते हैं। अग्नि पृथिवीलोक के अधिष्ठाता हैं। वायु अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता है। सूर्य्य अर्थात् आदित्य द्युलोक के अधिष्ठाता हैं। ये तीनों तीन विश्वों के नर हैं अर्थात् अधिष्ठाता हैं अतएव इन्हें 'विश्वानर' कहा जाता है। चूँकि विश्व तीन हैं इसीलिए 'विश्व' न कह कर 'विश्वा' कहा गया है। इन तीनों विश्वनरों में जरा भी ताप नहीं है। पार्थिवाग्नि में भी ताप नहीं है। आन्तरिक्ष्याग्नि भी ताप-शून्य है। सौर में भी ताप नहीं है। इन तीनों विश्वानरों के घर्षण से, संताप से, एक नया अग्नि उत्पन्न होता है। चूँकि यह विश्वानरों से उत्पन्न होता है अतएव इसे **वैश्वानर** कहा जाता है। चूँकि यह घर्षण से उत्पन्न होता है, घर्षण को ही संताप कहते हैं, अतएव हम इसे तापधर्म्मा कहने के लिए तय्यार हैं। संसार में जो तापयुक्त अग्नि है, समझो—वह 'वैश्वानर' अग्नि है।

---

१ शत० ब्रा० ३।५।१।७।

यह वैश्वानर अग्नि–पृथिवी से–सूर्य्य तक व्याप्त रहता है अतएव **वैश्वानरो यतते सूर्य्येण**[1] **आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्**[2] यह कहा जाता है। हम चूंकि पृथिवी पर रहते हैं। हमारा सम्बन्ध पार्थिव-वैश्वानराग्नि से है। अतएव पार्थिवगायत्राग्नि सम्बन्धात् हम वैश्वानर को गायत्राग्नि कह सकते हैं। परन्तु ध्यान रहे, क्या वैश्वानर, क्या गायत्र, क्या धिष्ण्य, सब सौराग्नि ही है अतएव वैश्वानर से यद्यपि हमारा आत्मा बनता है परन्तु चूंकि यह सूर्य्य की वस्तु है अतएव **सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**[3] यह कहा जाता है। यह वैश्वानराग्नि–१–आहृत्य, २–चित्य, ३–चितेनिधे भेदेन तीन प्रकार का है। जो अग्नि हमारा आत्मा बन जाता है–वह तो **आहृत्याग्नि** कहलाता है। यह अग्नि भौतिक-अग्नि है। शरीर पर जहाँ हाथ लगाते हैं वही गर्मी मालूम होती है। यह वही वैश्वानर आहृत्याग्नि है। भूत बिना प्राण के नहीं रहता एवं प्राण बिना भूत के नहीं रहता। भूत नाम है–मेटर (पदार्थ) का एवं प्राण नाम है–फोर्स (बल) का। न फोर्स बिना मेटर के रह सकता है, न मेटर बिना फोर्स के रह सकता है। दोनों अविनाभूत हैं। तो बस, इस से मानना पड़ता है कि यह वैश्वानर भी किसी न किसी प्राण को अवश्य ही आधारभूत रखता होगा। बस, वैश्वानराग्निस्वरूप आहृत्याग्नि का आलम्बन जो प्राण है–वही 'सप्तर्षि प्राण' कहलाता है। प्राणों की कुल चार जातियाँ हैं–१-परोरजाप्राण, २–आग्नेयप्राण, ३–सौम्यप्राण, ४–असुरप्राण। इन चारों में से वैश्वानराग्नि का आधारभूत दूसरा यही आग्नेयप्राण है। यह आग्नेयप्राण भी एकर्षि, द्व्यर्षि, त्र्यर्षि, चतुरर्षि दशर्षि, सप्तर्षि भेदेन कई प्रकार का है। इसीलिए तो–**अनन्ता वै वेदाः**[4]–यह कहा जाता है। कश्यप एकर्षि प्राण है। विश्वामित्र भी एकर्षि प्राण है। वसिष्ठागस्त्यमत्स्य–त्र्यर्षि प्राण है। पुलस्त्यपुलह–क्रतुदक्ष, द्व्यर्षिप्राण है। यद्यपि ये सब प्राण सब में रहते हैं तथापि इन के आलम्बनभूत सृष्टि-प्रवर्तक सप्तर्षि प्राण ही हैं। सात को मिला कर के वह एक प्राण है। सप्तावयवप्राण का नाम ही सप्तर्षिप्राण है। बस, प्रकृत में यही सप्तर्षिप्राण ही अभिप्रेत है। वैश्वानर का आलम्बन यही असत् अपरपर्य्यायक सप्तर्षि

---

१ ऋग्वेद मं० १।९८।१। २ या० निरुक्त ७।२३।

३ ऋग्वेद मं० १।११५।१। ४ तै०ब्रा० ३।१०।११।३।

आग्नेय प्राण है। सप्तपुरुषसमष्टिस्वरूप सप्तर्षि प्राण को, सप्तपुरुष-पुरुष को ही 'प्रजापति' कहा जाता है। इसी सप्तपुरुष पुरुषप्रजापति के लिए जो कि विभूत्या सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहता हुआ केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, **प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते**[१]-यह कहा जाता है। वैश्वानर और यह सप्तपुरुष प्रजापति अविनाभावेन रहता है अतएव वैश्वानर को भी 'सप्तपुरुष-पुरुष' कह दिया जाता है। बस, आहुत्याग्नि इसी सप्तपुरुष के आधार पर रहता है। अग्नि अन्नादस्वरूप है अर्थात् भोक्तास्वरूप है-खाने वाला है। अग्नि हर वक्त 'खाऊँ-खाऊँ' किया करता है। अग्नि की सत्ता आहुति से ही रहती है। हम थोड़े दिन अन्न न खाएँ तो सारे हाथ-पैर शिथिल पड़ जाएँ। चूँकि सप्तपुरुष प्रजापति जो कि केन्द्र में रहता है-आग्नेय है, अतएव उसमें अशनाया-बल उत्पन्न होता है। उस समय सिवाय आहुत्याग्नि के और कुछ नहीं रहता है। यह आहुत्याग्नि प्रजापति के सहारे रहता है अतएव इसे प्रजापति की महिमा कहा जाता है। महिमास्वरूप केन्द्र से बाहर जाते हुए आहुत्याग्नि को 'वाक्' भी कहा करते हैं अतएव-**तस्य वाऽएतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**[२]-यह कहा जाता है। बस, सप्तपुरुष प्रजापति अशनाया बल से बाहर जाती हुई इस वाक् को, आहुत्याग्नि को, अपने में आहुत कर लेता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्रऽएक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत। सोऽग्निमेव मुखाज्जनयां चक्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः। अन्नादं वाऽइममात्मनोऽजीजने यदग्निम्। न वाऽइह मदन्यदन्नमस्ति यं वाऽअयं नाद्यादिति। अथैनमग्निर्व्यात्तेनोपपर्याववर्त। तस्य भीतस्य स्वो महिमापचक्राम वाग्वाऽअस्य स्वो महिमा वागस्यापचक्राम। स प्रजापतिर्विदां चकार स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत्तस्मादु स्वाहेत्येव हूयते" ॥[3]

---

१ यजुर्वेद ३१।१६।   २ शत०ब्रा० १०।५।१।१।

३ शत०ब्रा० २।२।४।१-३-४ व ६।

अग्नि में जब सोम की आहुति डाली जाती है तो वह सोम अग्नि ही बन जाता है। शरीराग्नि में आहुत सोम अग्नि ही बन जाता है। शरीराग्नि के बाहर जो अन्न है वह तभी तक अन्न कहलाता है, जब तक कि वह शरीर में आहुत न हो। जहाँ आहुत हुआ कि, अन्नाद बना। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'द्वयं वाऽइदमत्ता चैवाद्यं च। तद्यदोभयं समागच्छत्यत्तैवाख्यायते नाद्यम्। स वै यः सोऽत्ताग्निरेव सः'' ॥[1]

परन्तु अग्नि में जब अग्नि डाली जाती है तो उसको अग्नि हजम नहीं कर सकता। अग्नि, अग्नि को नहीं पचा सकता अतएव यदि अग्नि पर अग्नि ही आता है तो उस का पहले वाली अग्नि पर चुनाव (चिति) हो जाता है। प्रजापति से आहुत जो आहुत्याग्नि था वह आग्नेय प्रजापति में आहुत हो कर भी हजम न हो सका—अपितु, उस पर सवार हो गया। बस, यही दूसरा 'चित्याग्नि' कहलाया। अस्थि-मांसादि का चुनाव ही इस चित्याग्नि का काम है। तात्पर्य यही है कि आहुत्याग्नि के आधार पर रहने वाला अस्थि-मांसादि का स्वरूप-रक्षक जो अग्नि है—वही चित्याग्नि कहलाता है। यह चित्याग्नि ही अन्नाद है अतएव उसके लिए भी कोई खूराक चाहिए। बस, उस चित्य में जो एक रस-भाग निकलता है, वही इस चित्य की खूराक है। इस चित्याग्नि में से जो रस-भाग निकलता है वह रसापेक्षया 'अमृताग्नि' कहलाता है। इसी से मस्तक बनता है। इसी मस्तक को आहवनीय कहते हैं। चित्याग्नि के लिए इसी मुख में आहुति दी जाती है। इस प्रकार वह वैश्वानर अग्नि सप्तपुरुषालम्बेन 'आहुत्य, चित्य, चितेनिधे' अपने ये तीन स्वरूप धारण कर लेता है। तीनों की अवस्था भिन्न है। वास्तव में तीनों एक चीज हैं, तीनों ही वैश्वानर हैं। वैश्वानर के तीन अवयव हैं। यह उसी सप्तपुरुष से अविनाभूत रहता है अतएव वैश्वानर को सप्तपुरुष-पुरुष कह दिया जाता है। हमने आत्मा को मनः-प्राण-वाङ्मय बतलाया है। इस में मन को छोड़ दीजिए। प्राण का अधिष्ठाता अक्षर है एवं वाक् का अधिष्ठाता क्षर है। यह अक्षर अमृत है एवं

१ शत० ब्रा० १०।६।२।१–२।

क्षर मर्त्य है। जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में बतलाया जा चुका है परन्तु रहते हैं दोनों अविनाभूत। इस क्षरविशिष्ट अक्षर की नौ बिन्दु होती हैं अर्थात् क्षर-विशिष्टाक्षर प्राण नौ अवयव रखता है। इसमें दो प्राण तो अक्षर की वस्तु हैं और सात प्राण क्षर की वस्तु हैं। प्रत्येक क्षर-पिण्ड में नौ प्राण रहते हैं। उसमें दो प्राण अक्षर के हैं एवं सात क्षर के हैं। जैसे अर्थ-सृष्टि में सात पर क्षर रहता है, दो पर अक्षर रहता है। वही कायदा शब्द-सृष्टि में भी समझना चाहिए। शब्दब्रह्म में क्षर को वर्ण कहते हैं, अक्षर को स्वर कहते हैं। अक्षर में दो बिन्दु होते हैं। 'स्त्र्यार्क्ट्' (स्-त्-र्-य्-अ-अ-र्-क्-ट्) में नौ बिन्दु समझ लीजिए। स्वर की एकमात्रा होती है, व्यञ्जन की आधी मात्रा होती है। स्वर व्यञ्जनों के केन्द्र में बैठता है। चूँकि बिन्दु आधी-मात्रा की होती है एवं स्वर एक मात्रा का होता है अतएव यह (स्वर) चौथी और पाँचवीं इन दो बिन्दुओं को रोकता है। इस प्रकार चार बिन्दु इस स्वर के पीछे बच जाते है, उनमें स्-त्-र्-य् ये व्यञ्जन बैठ जाते हैं एवं आगे की अवशिष्ट तीन बिन्दुओं में र्-क्-ट् ये तीन व्यञ्जन बैठ जाते हैं। इस प्रकार इन सात व्यञ्जनों को दो बिन्दु पर बैठा हुआ एक 'अ' उठा लेता है। बिन्दु-द्वयात्मक एक स्वर के आधार पर सप्त-प्राणस्वरूप सात व्यञ्जन ठहरे रहते हैं। स्वर स्वयं प्रतिष्ठित रहता हुआ उस वर्ण को प्रतिष्ठित रखता है। स्वर स्वतन्त्र है, व्यञ्जन परतन्त्र है। बिना स्वर के न व्यञ्जन का उच्चारण हो सकता है, न प्रतिष्ठा हो सकती है। परन्तु ध्यान रहे यदि सात से एक भी व्यञ्जन अधिक आ जाएगा तो फौरन दूसरा अक्षर कूद पड़ेगा। कहना यही है कि सात व्यञ्जन को बिन्दु-द्वयात्मक स्वर ठहराए रखता है। यह वर्ण पृथिवी की वस्तु है, स्वर सूर्य्य की वस्तु है। वर्णवाक् को अनुष्टुप् कहते हैं। यह अप्रतिष्ठा के कारण 'मर्त्या' कहलाती है एवं स्वर वाक् को 'बृहती' कहते हैं—इसे ही 'अमृता वाक्' कहते हैं। उसी प्रकार अर्थब्रह्म की ओर चलिए—पृथिवी अनुष्टुप् है, सूर्य्य बृहती है। सूर्य्य से ही पृथिवी की सत्ता है। सूर्य्य अक्षर है, पृथिवी क्षर है। क्षर सप्तपुरुष-पुरुष है। सूर्य्य रसभाग है—अमृतभाग है—आहवनीयाग्नि है। सूर्य्य के ही एक अन्य-तम प्राण का नाम 'इन्द्र' है। जिस थोक (समूह) का जो अधिष्ठाता होता है वह उस थोक में 'इन्द्र' कहलाता है। सूर्य्य द्वादश प्राणसमष्टि का नाम है। इस की अधिष्ठातृ वाक् है। वाक् को ही इन्द्र कहते हैं। यह वाक् अमृतावाक्

है। अमृतावाक् को ही इन्द्र कहते हैं। इसी से पार्थिवी अनुष्टुप्-वाक् की, मर्त्यावाक् की, स्थिति रहती है। अतएव श्रुति कहती है—

> "बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
> अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा" ॥[1]

मर्त्यावाक् अर्थात् क्षर अमृतावाक् के अधीन रहती है, अतएव उसे 'इन्द्रपत्नी' बतलाया जाता है। अस्तु, प्रकृत में हमें अर्थब्रह्म का विचार करना है। अर्थब्रह्म में नौ प्राणों में से सप्तप्राण-समष्टि का नाम 'आत्मक्षर' है एवं दो का नाम अक्षर है, इन दो में से एक प्राण अव्यय में व्याप्त हो जाता है—यही अव्ययानुगत प्राण 'स्फोट' शब्द से व्यवहृत होता है। बाकी अक्षर का अपना प्रातिस्विक एक ही प्राण बच जाता है। हमारे शरीर के आरम्भक अस्थि-मांसादि भूतचिति के अधिष्ठाता यही अक्षर-क्षर है। परन्तु ध्यान रहे कि अक्षर के भीतर अव्यय भी अवश्य ही रहता है। अव्यय सबका आलम्बन है। इसके ऊपर अक्षर है, इसके ऊपर सप्तपुरुष-क्षरपुरुष नाम का आग्नेय-प्रजापति है। इस सप्तपुरुष के ४–२–१ ये तीन विभाग रहते हैं। चार प्राणों को तो आत्मा कहते हैं। दो को पक्ष कहते हैं, एक को पुच्छ-प्रतिष्ठा कहते हैं। त्रिकास्थि से कण्ठ तक तो सातों में से चार प्राण रहते हैं। इन चारों प्राणों के आधार पर ही धड़ की सत्ता रहती है एवं एक प्राण पक्षस्वरूप बाएँ हाथ-पैर में रहता है, एक दाएँ हाथ-पैर में रहता है एवं त्रिकास्थि के नीचे मूलाधार से ऊपर एक प्राण रहता है इसे पुच्छ-स्थानीय होने के कारण प्रतिष्ठा-प्राण कहते हैं। इस प्रकार सात क्षरप्राण तीन विभागों में बँटे हुए हैं। मनुष्य में जो एक तनाव सा दीखता है वही प्रतिष्ठास्वरूप-पुच्छप्राण है। प्राण निराकार होते हैं। इस निराकार प्राण ने उस हड्डी वाले बोझ को उठा रखा है। जिस दिन प्रतिष्ठाप्राण निकल जाता है, उस दिन आदमी की कमर झुक जाती है। इसी प्रतिष्ठाप्राण के लिए **अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति**—यह कहा जाता है। इन सातों प्राणों का जो सत् भाग है, जो कि

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२४।९।

परिमाण में एक प्राण जितना है उससे मस्तक बनता है—जिसे कि सिर कहते हैं। चूँकि सातों के सत् भाग से यह बना है अतः उन सातों क्षर प्राणों पर यह अमृत अक्षर अर्थात् मस्तक हुकूमत करता है। सातों प्राणों से इस मस्तक की कड़ी जुड़ी रहती है। सच है, क्षर अक्षर से अलग क्यों कर रह सकता है ? इसी मस्तक के द्वारा सम्पूर्ण प्राणों को अपनी-अपनी खुराक मिला करती है। हमने जो चार प्राणों को आत्मा बतलाया है, उसे नित्य आत्मा से पृथक् समझना चाहिए। चूँकि दो पक्ष अर्थात् हाथ-पैर इसी धड़ के आधार पर रहते हैं, अतएव पक्षादि की अपेक्षा हम इस चतुष्प्राण समष्टि को 'आत्मा' कह देते हैं। यह आत्मा है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि हाथ-पैर के कट जाने पर शरीर मुर्दा नहीं होता। हाथ-पैर कट जाने पर भी जीवन रह सकता है। परन्तु वक्षः-स्थल विदीर्ण हो जाने पर मनुष्य एक सैकण्ड भी जीवित नहीं रह सकता। अपिच—धड़ हाथ को एवं मस्तक को चाहे जिधर हिला सकता हैं किन्तु पक्षों की धड़ पर कुछ भी हुकूमत नहीं चलती। इस प्रकार इन चारों का आत्मत्व अवश्य है किन्तु इनके सारभाग के निकल जाने से ये सातों ही प्राण मूर्च्छित हो गए हैं। सातों का जो सारभाग है, वही मस्तक का निर्म्माता है अतएव उसके सारे प्राण उल्वण रहते हैं। चैतन्य-प्रयुक्त सारे काम मस्तक से ही होते हैं। बिना मस्तिष्क की सहायता के ये सातों ही बेकार हैं अतएव मस्तक को **श्री** कहा जाता है। श्री रस-भाग का नाम है। जो रस-भाग को धारण करता है—उसे 'श्रीधार' कहते हैं, इसीलिए लोक में मण्डली के अधिष्ठाता को **सरदार** कहते हैं। सरदार श्रीधार का ही अपभ्रंश है। इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि चार आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ प्रतिष्ठा एव आठवाँ शिर इन सातों की समष्टि का नाम पुरुपप्रजापति है। यह उसी अव्ययालम्बन पर रहते हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—

"तेऽब्रुवन्। न वाऽइत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुमिमान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति। तऽएतान् सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत्। अथ यै तेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः। यो रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवद्यच्छ्रियं समुदौहंस्तस्मात् शिरः। स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्च-

त्वार आत्मा त्रय पक्षपुच्छानि । अथ यदेकेन पुरुषेणात्मानं-वर्धयति तेन वीर्येणायमात्मा पक्षपुच्छान्युद्यच्छति" ।।[1]

हमने बतलाया है कि ये नौ प्राण आग्नेय हैं। हाथ-पाँव आदि का निर्म्माण इस अग्नि के चुनाव से ही होता है। इसमें जो सात प्राण हैं जो कि आत्मक्षर कहलाते हैं–वे परिणामी हैं, उन्हीं से नाना-विकार उत्पन्न होते हैं अतएव क्षरणात् इन्हें क्षर कहा जाता है एवं आठवां अमृतप्राण है–क्षर का निमित्त कारण है, अतएव उसे अक्षर कहा करते हैं। इस प्रकार अष्टप्राणात्म क्षर-अक्षर का आधा भाग अमृत है एवं आधा भाग मर्त्य है। इस सप्तपुरुष आत्मक्षर प्रजापति से आगे की अस्थि-मांसादि स्वरूप वैकारिक-सृष्टियाँ होती हैं। इस सप्तपुरुषप्रजापति से जो कि अग्निचितिस्वरूप है–सबसे प्रथम वेद-प्रतिष्ठा उत्पन्न होती है। इस सर्वज्ञ प्रजापति से प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ ये तीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं। तीन में से वेद का नाम ही प्रतिष्ठा है, जिसका कि विवेचन हम वेदचिति में कर आए हैं। इसी पर वह सप्तपुरुषप्रजापति (आत्मक्षर) जो कि प्राणस्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है, बैठ कर सर्वप्रथम अपने वाक्-भाग से पानी को उत्पन्न करता है। पानी से ही आगे की सारी सृष्टि होती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत्स तपाऽतप्यत स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत् तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत । वाच एव लोकात्" ।।[2]

"यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" ।।[3]

तस्मादेतद् से इसी सप्तपुरुषप्रजापति का ग्रहण है। बस, भूतचिति का जनक वैश्वानर अग्निमय चार आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ शरीरस्वरूप

---

१ शत० ब्रा० ६।१।१।३–६ । २ शत०ब्रा० ६।१।१।८–९ ।
३ मुण्डक उप० १।१।९ ।

जो सप्तपुरुष-पुरुष प्रजापति है—वही अग्निचिति कहलाता है। अष्टपुरुषात्मक जो एक पुरुष है, जो कि आलोमभ्य: आनखाग्रेभ्य: व्याप्त रहता है, अग्नि-चिति कहलाता है—इसे ही अन्नादचिति समझना चाहिए। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि पुच्छप्राण ही मस्तक में आ कर विज्ञान का काम करने लग जाता है अतएव मनुष्य के पूँछ नहीं होती। बैल वगैरः में मस्तिष्क-शक्ति के, विज्ञान-शक्ति के, अभाव का एकमात्र कारण यही है कि उनका वह मसाला (सामग्री) पूँछ के काम में आ जाता है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश में जो तेज है, उसे जठराग्नि कहते हैं। अन्न-परिपाक इसी से होता है, न कि वैश्वानर से। परन्तु चूँकि बिना वैश्वानर के—सप्तपुरुष प्रजापति के—इसकी सत्ता रह नहीं सकती अतएव अहं वैश्वानरो भूत्वा[1]—यह कह दिया जाता है। बस, यही अग्निचिति है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"तदन्तरतो (अवन्तरतो) दिव्यान्तरिक्ष पार्थिव रसानामन्यो-न्यसंघर्षादुपसम्पद्यमानो वैश्वानरोऽग्निरग्निचिति:। चत्वार: पुरुष आत्मा। द्वौ पक्षौ पुच्छमेकम्। सप्तानामेषामुद्धार: त्रीभि: शिर:। स इत्यमष्ट पुरुषोऽयमेक: पुरुषोऽग्निश्चिति: सोऽन्नादोऽग्नि:"॥

॥ इति अग्निचिति विवेचनम् ॥

अथ देवचिति विवेचनम्

अष्टपुरुष प्रजापति से ही हमारे शरीर का निर्म्माण होता है। यह पूर्व के प्रकरण से सिद्ध हो जाता है। आठ ही आग्नेय हैं। अष्टाक्षरा अग्नि को ही गायत्री कहते हैं अतएव गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत् कहा जाता है। हमने बतलाया है कि ये आठों आठ प्राण हैं। सात क्षर प्राण हैं, आठवाँ अक्षर प्राण है,। एक एक प्राण, एक-एक प्रादेश जितना अर्थात् साढ़े दस अँगुल का होता है। चूँकि आठों प्राणों से मनुष्य के शरीर का निर्म्माण होता है अतएव राजमान से प्रत्येक मनुष्य ८४ अङ्गुल का होता है एवं अपनी नाप से

---

१ गीता १५।१४।

९६ अङ्गुल का होता है। इन आठ प्राणों में से चार प्राण गुदा से पैर तक समझिए तथा चार प्राण गुदा से मस्तक तक समझिए। इन आठों प्राणों में से मूलाधार से नीचे के, चारों प्राणों के विषय में हमें कुछ नहीं कहना। कहना है ऊपर के चार प्राणों के विषय में। गुदा से ऊपर तक के जो प्राण हैं, उनमें से प्रत्येक में सात-सात प्राण रहते हैं। सप्तप्राण-समष्टि ही एक-एक प्राण का स्वरूप है। मूलाधार से नाभि तक एक प्राण है, नाभि से हृदय तक दूसरा प्राण है, हृदय से कण्ठ तक तीसरा प्राण है एवं कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र तक चौथा प्राण है। चारों प्राणों में से प्रत्येक प्राण साढ़े दस अँगुल की अभिव्याप्ति में है। प्रत्येक प्राण में से सात-सात प्राण और हैं। हमने प्राणों की अनेक जातियाँ बतलाई थी, उनमें एक को सप्तर्षि-प्राण भी कहा गया है। बस, प्रत्येक प्राण को सप्तर्षिप्राण ही समझना चाहिए। इन चारों प्राणों के रहने का जो स्थान है, उसे वैदिक-परिभाषा में गुहा कहा जाता है। चूंकि प्राण चार हैं, अतएव गुहा भी चार ही हो जाती हैं। उन चारों के नाम ये हैं —१–शिरोगुहा, २–उरोगुहा, ३–उदरगुहा, ४–बस्तिगुहा। प्रत्येक गुहा में जो प्राण रहता है, वह सप्तसंस्थ है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि प्रत्येक गुहा में सात-सात ही वस्तुएँ दिखलाई पड़ती हैं। प्रारम्भ में ही लीजिए। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्य्यन्त दो कान हैं, दो नासिका-छिद्र हैं, दो आँखें हैं, एक मुँह है। कण्ठ से हृदय तक दो हाथ हैं, दो स्तन है दो फुफ्फुस हैं, एक हृदय है। हृदय से नाभि तक यकृत और प्लीहा हैं; बाद में दो क्लोम हैं, दो वृक्क हैं; सातवीं नाभि है। नाभि से गुदा तक दो श्रोणि हैं–मूत्ररेतसी है, दो अण्डकोष हैं, सातवाँ मूलाधार है। इन सातों प्राणों मे छह-छह प्राण तो जोड़ले (युग्म) हैं एवं मुँह-नाभि-हृदय-मूलाधार ये एक-एक ही हैं। परन्तु सातों एक साथ पैदा होते हैं। सातों ही देवताओं से उत्पन्न होने वाले ऋषि कहलाते हैं। अग्नि-वायु-इन्द्र-दिक्-भास्वर उन पाँचों देवताओं से ही इन सात ऋषि-प्राणों की स्थिति है, जैसा कि वेद भगवान् कहते हैं—

"साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः" ॥[1]

१ ऋग्वेद मं० १।१६४।१५।

ऋषि-प्राण से पितरप्राण उत्पन्न होते हैं। पितरप्राण से देवता उत्पन्न होते हैं। किन्तु यहाँ जो प्राणात्मक ऋषि हैं वे देवताओं से उत्पन्न होते हैं। इस बात को बतलाने के लिए 'देवजा:' कह दिया गया है। प्रत्येक गुहा में सात-सात प्राण रहते हैं। यह बात यद्यपि विज्ञान से सिद्ध हो जाती है तथापि बिना प्रमाण के सन्तोष नहीं होता अतएव इसमें प्रमाण बता दिया जाता है। श्रुति कहती है—

"सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त-सप्त" ॥[1]

पूर्वोक्त चार सप्तकों में से, कण्ठ से नीचे तक जो त्रिलोकी है एवं कण्ठ से ऊपर चतुर्थ लोक है जो कि आपोलोक कहलाता है। गुदा से नाभि तक अपान-प्राण प्रधान पृथिवीलोक है। नाभि से हृदय तक व्यान-प्रधान, अन्तरिक्षलोक है। हृदय से कण्ठ तक प्राण-प्रधान आदित्यलोक है। कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र तक आपोलोक है जो कि शिवलोक भी कहलाता है। इन्हीं चारों लोकों के लिए—'**पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरापः**' यह कहा जाता है। प्रकृति-मण्डल में, ईश्वर शरीर में, सबसे पहले स्वयम्भू-मण्डल है, बाद में परमेष्ठि-मण्डल है, उसके बाद में सूर्य्यमण्डल है, बाद में अन्तरिक्ष स्थानीय चन्द्र-मण्डल है, बाद में पृथिवी-लोक है। हमारे सर्वाङ्ग शरीर में जो चेतना है, वह स्वयम्भू की वस्तु है। श्री भाग पारमेष्ठ्य है एवं प्राण-अपान-व्यान तीनों तीनों लोक हैं। प्रकृति में उत्तरोत्तर चेतना कम होती जाती है तथैव यहाँ भी उत्तरोत्तर चेतना कम रहती है। इसीलिए तो **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह**[2]—कहा जाता है। इससे बतलाना हमें यही है कि पाँच में से—पाँचों देवता, हमारे शरीर में चारों गुहाओं में आते हैं। पृथिवी के देवता अग्नि हैं। अन्तरिक्ष के वायु हैं। द्युलोक के आदित्य हैं एवं बाद में भास्वर सोम है तथा ब्रह्मणस्पति में दिक्-सोम है। जैसे अग्नि का चुनाव होता है तथैव इन देवताओं का उस वैश्वानर अग्नि-चिति पर चुनाव होता है। चारों गुहाओं में यद्यपि पाँचों

---

१ मुण्डक उप० २।१।८। २ कठ०उप० २।४।१०।

देवता रहते हैं तथापि ये पाँचों स्पष्टरूपेण उल्वण शिरो-गुहा में ही हैं। मुख अग्नि-स्थानीय है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आप कितने ही ठण्डे पानी को मुँह में भरिए, जब आप उसे बाहर निकालेंगे तो उसकी शीतलता जाती रहेगी। श्वासप्रश्वास-वायु है। दोनों आँखें सूर्य्य-स्थानीय हैं। दोनों कान दिक्सोम से बने हुए हैं। दिक् ब्राह्मणस्पत्य है। संसार भर में जितनी भी पवित्रता है, उसका अधिष्ठाता यही सोम है। यही प्राण हमारे कान में रहता है। यज्ञोपवीत देवप्राण-युक्त है। मूत्रोत्सर्ग से निकलने वाली खराब हवा उसको दूषित न कर दे अतएव उसे पवित्र सोमस्वरूप कान पर रोक लेना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्र भास्वर-सोम है जो कि प्रज्ञा मन नाम से व्यवहृत होता है। ये ही पाँचों देवता–१–वाक्, २–प्राण, ३–चक्षु, ४–श्रोत्र, ५–मन, इन नामों से व्यवहृत होते हैं। पाँचों देवताओं का भी हमारे शरीर में (चिति, चयन) है अतएव श्रुति कहती है—

"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्–इति" ॥[1]

बस, यही देवचिति कहलाती है। इन पाँचों इन्द्रियों के जो पाँचों भोग्य विषय हैं वे पाँचों अन्न कहलाते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, ये ही पाँचों के पाँचों अन्न हैं। ये पाँचों देवता पाँचों भोग्य विषयों पर निर्भर हैं। पाँचों अन्नों से ही पाँचों देवताओं की स्थिति रहती है। अतएव उपजीव्यत्वात् हम देवचिति को 'अन्नचिति' भी कह सकते हैं। वादी प्रश्न करता है कि आपके इस चिति-क्रम का प्राणी-शरीर में तो समन्वय हो जाता है–किन्तु अचेतन में तो वाक्प्राणचक्षुश्रोत्रादि नहीं हैं, अतएव आपका यह चितिक्रम अव्याप्त है। जरा सोचने पर इस प्रश्न का उत्तर मालूम हो जाता है तथापि उसे स्पष्ट कर देना ही अच्छा है। जिन्हें आप अचेतन समझ रहे हैं उनमें भी अग्नि-सोम अविनाभावेन रहते हैं। संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो अग्नीषोमीय न हो। अग्नीषोमात्मकं जगत्[2]–यह हमारा आत्मसिद्धान्त है।

---

१ ऐत० उप० २।४।   २ रामपूर्व० उप० ३।६।

इसमें अग्नि की घन-तरल-विरलावस्था का नाम अग्नि, वायु, आदित्य है एवं दिक्भास्वरभेदेन सोम दो प्रकार का है। ऐसी अवस्था में अचेतन पदार्थों में से पञ्च देवताओं का अपलाप नहीं किया जा सकता। चूँकि उनमें प्राण-साधक इन्द्रियाँ नहीं हैं–अतएव वे बोलते-सूँघते नहीं। केवल इसीलिए उनमें देवताओं का अभाव मान लेना सर्वथा अवैज्ञानिक है—

"तस्मिन्नग्नौ प्रचीयमाना-अग्निवाय्वादित्या-स्त्रयोऽग्नयो द्वौ सोमौ इति पञ्चदेवा देवचितिः। यथेह चेतनशरीरे-वाक्प्राणचक्षु-श्रोत्रमनोरूपैरन्यरूपैर्वा परिणममानाः प्राणा देवचितिः। तदन्नं सोमः अचेतनेष्वपि त्रयोऽग्नयो द्वौ सोमौ नित्यमवतिष्ठन्ते–अग्नीषोमीयत्वात् सर्वेषाम्"॥

॥ इति देवचिति विवेचनम् ॥

अथ बीजचिति विवेचनम्

पाँचवीं है–'बीजचिति'। विद्या और अविद्या से युक्त जो बुद्धि है, वही 'बीजचिति' कहलाती है। पूर्व के प्रकरण में बताया गया है कि ज्ञान के अधिष्ठाता सूर्य्य हैं। सूर्य्य से ही विज्ञान आता है। विज्ञान को ही बुद्धि कहते हैं। इनमें चार प्रकार की ज्ञान-बुद्धियाँ हैं, चार ही प्रकार की अज्ञान-बुद्धियाँ हैं। इस प्रकार कुल आठ बुद्धियाँ हो जाती हैं। यही सांख्य की आठ बुद्धियाँ हैं। इनमें चार बुद्धियाँ ज्ञानस्वरूपा हैं, शेष चार अज्ञानस्वरूपा हैं। ज्ञान को ज्ञान ही कहते हैं, अज्ञान को कर्म्म कहते हैं। ज्ञान और कर्म्म दोनों का अधिष्ठाता यही सूर्य्य है। सूर्य्य ही प्राण-प्रदाता है, सूर्य्य ही विज्ञान-प्रदाता है। हम में जो ज्ञान है उससे जो एक अनुभवाहित-संस्कार होता है, उसका नाम है–भावना एवं कर्म्मजन्यानुभवाहित-संस्कार का नाम है–वासना। बस, भावना और वासना ये दो ही बन्धन के प्रधान कारण हैं। भावना किसे कहते हैं और वासना किसे कहते हैं? इनका विस्तृत-विवेचन, इस रहस्य के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। यहाँ पर सिर्फ इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि अविद्या से ही क्लेश होता है। अविद्या से अज्ञान अभिप्रेत समझना

चाहिए। अज्ञान से होने वाले क्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच ही हैं। विद्या के अभाव से मनुष्य पद-पद पर ठोकरें खाता रहता है। जिसमें अविद्या भाग जितना अधिक होगा, संसार में वह उतना ही अधिक दुःखी रहेगा। दूसरी है–अस्मिता।

अहंकार के सूक्ष्म रूप का नाम ही अस्मिता है। तीसरा है–राग। किसी से अत्यन्त स्नेह हो जाना राग कहलाता है। राग से भी दुःखोदय होता है। स्त्री-पुत्र-धन इत्यादि के साथ जो स्नेह हो जाता है, उस से आत्मा बद्ध हो जाता है। स्त्रैण पुरुष के सामने से यदि क्षण भर भी स्त्री इधर-उधर हो जाती है तो उस का आत्मा छटपटाने लगता है। किसी को अपने नन्हे बच्चे के साथ प्यार हो जाता है। वह जरा इधर-उधर हुआ अथवा उसे जरा भी पीड़ा हुई कि वह–'अरे ! मेरे प्राणप्रिय के क्या हुआ ?'–इस प्रकार विलाप करने लगता है। कहना यही है कि विषयानुराग भी क्लेश बन जाता है, एवमेव द्वेष से भी क्लेश होता है। यदि किसी के साथ द्वेष हो जाता है तो खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते, हर-घड़ी हर-सैकण्ड, उससे बदला लेने के लिए मनुष्य अनेक उपाय सोचा करता है। सदा चिन्ता में निमग्न रहता है। इस प्रकार रागवत् द्वेष भी क्लेश का कारण है। पाँचवाँ है–अभिनिवेश। दुराग्रह का नाम ही अभिनिवेश है। अपने को सर्वेसर्वा समझ कर **इदमित्यमेव** समझ लेना, अपने सामने किसी की न सुनना, सारे उपदेशों को दुराग्रहवत्-विषवत् समझना ही अभिनिवेश कहलाता है। यद्यपि हैं पाँचों ही क्लेश तथापि अभिनिवेश को हम सर्वशिरोमणि कहेंगे। अभिनिवेशी मनुष्य के हृदय में श्रद्धा नहीं होती। वह अपनी अक्ल के सामने संसार को तुच्छ समझता है। जो कुछ मैं समझता हूँ वही ठीक है, दूसरों का कहना सच्चा हो ही नहीं सकता, इस जिद का नाम ही दुराग्रह है। इसी को अभिनिवेश कह सकते हैं। बीसवीं शताब्दी का जनसमूह, उसमें भी पाश्चात्य-वातावरण में पोषित समुदाय, प्रायः अभिनिवेश का ही उपासक है। स्वभाव से ही आत्मपतन करने वाली शिक्षा ने उनको इतना अभिनिवेशी बना दिया है, इतना अभिनिवेशी बना दिया है कि उसके सामने वे अपने बाप-दादों को भी डेमफूल, नॉनसेन्स, कहने में नहीं हिचकते। ये लोग उन लोगों की चूड़ियाँ (ग्रामोफोन रिकार्ड–सं०) हैं। पाश्चात्य जगत् जो कुछ कहता है, उसकी नकल मात्र कर देना इनका

धर्म्म है। घर के बाप-दादों के नाम तक की इन्हें खबर नहीं है किन्तु पाश्चात्यों की वंशावलियाँ तक इन्हें कण्ठस्थ रहती है। भगवान् श्री कृष्ण जब शत्रु पर सुदर्शनचक्र चलाते थे, वह वापस लौट आता था। महाराजा दशरथ शब्द-बेधी बाण चला कर शत्रु-संहार कर देते थे। गोवर्धनधारी ने गिरिराज को उठा कर सारे ब्रजमण्डल को बाढ़ के वेग से बचा लिया था। ये सब बातें अभिनिवेश ही नहीं जमने देता। अभिनिवेश से श्रद्धासूत्र टूट जाता है अतएव सच्ची (वस्तु) भी मिथ्या दिखलाई पड़ने लगती है। भगवान् भर्तृहरि कहते हैं–'ऐसे दुराग्रही-मनुष्य के हृदय का सन्तोष करना कठिन नहीं अपितु, असाध्य है। भर्तृहरि कहते हैं—

"प्रसह्यमणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्।
समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्॥

भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्।
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्"॥[1]

कहना यही है कि ये पाँचों क्लेश उसी अविद्या-बुद्धि से उत्पन्न होते हैं। इन अविद्या बुद्धियों से आत्मा पर आवरण चढ़ता है। इसी प्रकार चार विद्या-बुद्धि हैं। वे चारों–धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य नाम से प्रसिद्ध हैं। अविद्या-बुद्धि–अधर्म्म, अज्ञान, अनैश्वर्य्य, आसक्ति, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। बस, ये आठ बुद्धियाँ ही बन्धन की बीज-भूता हैं। इनका विस्तृत विवेचन 'प्रतिष्ठाकृष्ण-रहस्य' में कर दिया गया है। यहाँ पर हमें केवल इतना ही बताना है कि बुद्धि की चिति का नाम ही 'बीजचिति' है। अविद्या-विद्या-भेदेन बुद्धि आठ प्रकार की है। आठ में विद्याजन्य संस्कार-भावना है, अविद्याजन्य संस्कार-वासना है। भावना और वासना के लेप से ही–आत्मा को बन्धन में आना पड़ता है। वेदादि सारी चितियाँ तभी होती हैं-जब कि आत्मा महदूद (सीमित) बन जाए–परिच्छिन्न बन जाए एवं आत्मा महदूद बनता है इसी वासना-भावना से। वासना-भावना की जननी आठ बुद्धियाँ हैं

---

१ द्रष्टव्य नीतिशतक श्लोक सं० ४।

अतएव हम इस बुद्धिचिति को 'बीजचिति' कहने के लिए तय्यार हैं। हमने बताया था कि प्राण ब्रह्मा का विकार है, इससे वेदचिति होती है। आपः विष्णु का विकार है, इससे पञ्चभूतचिति होती है। इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि यह पानी, पारमेष्ठ्य पानी है। इसी से पाँचों भूत बनते हैं। यद्यपि **तस्माद् वा एतस्मादात्मन**[1]–इत्यादि से, आकाश से, इस वायुमय पानी की उत्पत्ति बतलाई गई है तथापि **अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्**[2] के अनुसार आपः से चूँकि प्राण उत्पन्न होता है एवं प्राणमण्डल का नाम ही आकाश है अतएव वायुमय पानी से आकाश की भी उत्पत्ति मानी जा सकती है। वाक् इन्द्र का विकार है। इन्द्र सूर्य्य की वस्तु है। हमने बताया है कि इन्द्र, थोक (समूह) के अधिष्ठाता का नाम है। वाक् ही सौराधिष्ठात्री है, अतएव वाक् को ही इन्द्र कहा जाता है। इसी वागिन्द्र से जिसे कि 'ईथर' कहते हैं, बुद्धि उत्पन्न होती है अतएव **धियो यो नः प्रचोदयात्**[3]–यह कहा जाता है। चौथा है–अन्न। यह सोम का विकार है। अन्न ही आहुत हो कर अन्नाद बन जाता है अतएव अन्नादस्वरूप देवचिति को 'अन्नचिति' मान लिया जाता है। पाँचवाँ है–अन्नाद। अन्नाद अग्नि का विकार है। इससे सप्तपुरुषचिति होती है। यह सप्तपुरुष क्षरप्रजापति गायत्रीमात्रिक वेद उत्पन्न कर, उस पर प्रतिष्ठित हो पानी को उत्पन्न करता है, जिसके लिए **सोऽपोसृजत वाचएव लोकात्**–यह कहा जाता है। इस प्रकार हमारे शरीर में पाँच चितियाँ होती हैं। **अथ विद्याऽविद्याविकाराभ्यामुपसम्पद्यमाना बुद्धिभेदा बीजचितिः। स वागिन्द्रः।**

इसी अभिप्राय से कहा जाता है–**बीजदैवतभूतानि वेदानां चितयः पदम्।** बीज, भूत, दैवत, अग्नि, वेद इन पाँचों चितियों का नाम ही–पद है। इसी को शरीर कहते हैं।

---

१ तै०उप० २।१।१। २ छा०उप० ६।६।५।
३ यजुर्वेद ३६।३।

।। बीजदैवतभूतानि वेदानां चितयः पदम् ।।

प्राण	वेदचितिः	वयोयजुः-विष्कम्भं-पृष्ठंचेति	स प्राणो ब्रह्मा	ब्रह्मा	१
आपः	भूतचितिः	पृथिवी, जल, तेज, उत्पन्नैः रसासृगादि	ता आपो विष्णुः	विष्णुः	२
वाक्	बीजचितिः	अष्टौ बुद्धयः	स वागिन्द्रः	इन्द्रः	३
अन्न	देवचितिः	वाक्-प्राण-त्वक्-चक्षुः-श्रोत्र-मन	तदन्नं सोमः	सोमः	४
अन्नाद	अग्निचितिः	सप्तपुरुषः पुरुषः	सोऽन्नादोऽग्निः	अग्निः	५

हमने बताया है कि–प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न इन पाँचों विकारक्षरों की, पाँचों में आहुति हो जाने से, पूर्वोक्त स्वयम्भू आदि पाँच यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ही क्षर अवस्था-विशेष के कारण–आत्मक्षर, विकारक्षर एवं यज्ञक्षरभेदेन तीन स्वरूप धारण कर लेता है। इन तीनों में से–आत्मक्षर षोडशी आत्मा में चला जाता है। अवशिष्ट बचते हैं–विकार और यज्ञक्षर। इसमें विकारक्षरों की स्वातन्त्र्येण उपलब्धि ही नहीं होती है। ऐसी अवस्था में केवल यज्ञक्षर मात्र बच जाते हैं। बस, इन्हीं यज्ञक्षरों से–स्वयम्भू आदि पाँचों पिण्डों का निर्म्माण होता है एवं इन्हीं पाँचों से सारी सृष्टियाँ होती हैं। इस प्रकार पद और पुनःपद अर्थात् शरीर और महिमा दोनों में यही यज्ञक्षर रहते हैं। यज्ञक्षरों से ही शरीर बनता है एवं यज्ञक्षरों से ही महिमा बनती है। परन्तु इतना अन्तर अवश्य है कि ये पाँचों ही यज्ञक्षर, पद में भिन्नस्वरूप से अपनी स्थिति रखते हैं एवं पुनःपद में भिन्नस्वरूप से रहते हैं। महिमा में इन यज्ञक्षरों का दूसरा स्वरूप रहता है, पद में दूसरा स्वरूप रहता है। इन पाँचों यज्ञक्षरों में अन्न केवल सोम को ही कहा जाता है। जो वस्तु अग्नि में आहुत हो कर तद्रूप बन जाए, उसी का नाम अन्न है। प्राण-आप-वाक् एवं अन्न अर्थात् सोम इन चारों में से केवल सोम ही ऐसा पदार्थ है जिसे कि अग्नि हजम कर लिया जाता है। सोम के अलावा तीनों क्षर अग्नि में कभी नहीं मिल सकते। आग में कितना ही पानी डालो,

या तो वह अग्नि को मार देगा अथवा भाप बन कर उड़ जाएगा। यह सब कुछ होगा किन्तु अग्नि उसका हनन नहीं कर सकेगा। एवमेव प्राण को चाहे कितना ही अग्नि में डालिए, अग्नि उसे कभी नहीं जला सकता। एवमेव वाक् को अग्नि में प्रविष्ट कीजिए, वह वाक् (शब्द) आग को चीरता हुआ चला जाएगा। अग्नि उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। बात सच है कि आप-प्राण-वाक् तीनों अग्नि हैं। अग्नि, अग्नि को नहीं जला सकता अतएव अन्नाद अग्नि, उन तीनों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। अतः अन्न केवल सोम को ही कहा जाता है।

प्रसङ्गागत-सोमस्वरूप बता कर पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। हमने बताया था कि प्राण-आप आदि से पाँच चितियाँ होती हैं। पूर्व-प्रकरण में चिति-क्रम और तरह बताया था, अब भिन्न प्रकार से बताते हैं— पद में अर्थात् शरीर में-बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, अग्निचिति, वेदचिति, ये पाँच चितियाँ होती हैं। इन्हीं पाँचों चितियों की समष्टि का नाम शरीर है। इन पाँचों में सौरी-वाक्स्वरूप जो इन्द्र है, उससे उत्पन्न जो विद्या और अविद्या है, वह 'बीजचिति' नाम से व्यवहृत होती है। इसी विद्या-अविद्या-जन्य भावना-वासना संस्कार पर ही चूँकि बाकी की चारों चितियाँ उत्पन्न होती हैं एवं उत्पन्न हो कर प्रतिष्ठित रहती हैं अतएव इसे हम 'बीजचिति' कहने के लिए तय्यार हैं एव वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन-स्वरूप जो पाँच प्राण हैं, इनकी जो चिति है, उसे ही 'देवचिति' कहते हैं। पूर्व के चिति-प्रकरण में प्राण-चिति को वेदचिति बतलाया था एवं यहाँ प्राणचिति को 'देवचिति' बतलाया जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए क्यों कि वेदचिति वाला जो प्राण है, वह स्वयम्भू प्राण है एवं देवचिति वाला जो प्राण है, वह सौर अर्थात् पार्थिव-प्राण है। सौर आग्नेयप्राण एवं पार्थिव आग्नेयप्राण तथा सौम्यप्राण परमेष्ठी सूर्य्य की वस्तु हैं। इसके चुनाव को 'देवचिति' कहते हैं एवं स्वयम्भू ब्रह्म-प्राण के चुनाव को 'वेदचिति' कहते हैं। वाक् अग्नि है। प्राण वायु है। चक्षु आदित्य है। श्रोत्र दिक्सोम है। मन चन्द्रसोम है। इस प्रकार पाँचों प्राणों का जो चुनाव है उसे हम 'देवचिति' कहेंगे। वाङ्मय सौर-प्राणचिति का नाम ही देवचिति है एवं शुद्ध प्राणचिति को वेदचिति

कहते हैं। जिन्हें साधारण मनुष्य जड़ समझते हैं, ध्यान रहे उनमें भी तीनों अग्नि (अग्नि-वायु-आदित्य) एवं दोनों सोम अवश्य ही रहते हैं। विश्वान्तर्गत कोई भी पदार्थ, चाहे आप उसे जड़ कहिए, चाहे चेतन कहिए, अग्नि-सोम के बिना अपनी स्थिति एक क्षण भी नहीं रख सकता एवं आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिवी इन पाँचों के विस्तार से उत्पन्न जो आपोमय धामच्छद पाञ्च-भौतिक पिण्ड है, मूर्ति है, उसी का नाम 'भूतचिति' है एवं चार आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ एवं आठवाँ सातों का सारभाग मस्तक, इस प्रकार यह अष्ट-पुरुषस्वरूप जो चित्याग्नि है वह अन्नाद-क्षर के कारण अग्निचिति कहलाती है। इस प्रकार पाँच चितियों से शरीर बना हुआ है—

"अथ पञ्चानामप्येषां क्षराणां पञ्चस्वाहुतिभिः पञ्चजना-यज्ञाः प्रजायन्ते। ते चैते पञ्चापि यज्ञक्षराः पदेऽन्यथा, पुनः पदे चान्यथा रूपं दधते। यदेतावद् बीजचितिः, देवचितिः, भूतचितिः, अग्निचितिः, वेदचितिः, इति पञ्चचितयो भवन्ति। वागिन्द्रो बुद्धि-विद्या चाविद्या च–सा बीजचितिः ॥१॥ एतदाधारेणेतरासां चिती-नामुपधानाद् बीजत्वम्। वाक्-प्राण-चक्षुःश्रोत्रमनांसि प्राणा-'देव-चितिः' (अन्नचितिः) ॥२॥ अचेतनेष्वपि त्रयोऽग्नयो द्वौ सोमौ नित्य-मवतिष्ठन्ते। अग्नीषोमीयत्वात् सर्वेषाम्। आकाश-वायु-तेजो-जल-पृथिवीविकारैरुपजनित आपोमयः पाञ्चभौतिकः पिण्डो भूतचितिः ॥३॥[1] चत्वार आत्मा द्वौ पक्षौ, पुच्छमेक-मथ सप्तोद्धारं शिर इत्यष्ट-पुरुषश्चित्याग्निप्रजापतिरन्नादोऽग्निचितिः ॥४॥ ५–वेदचितिश्च।

इसके बाद आत्मा की जितनी भी उपकरण-सामग्री होती है वह 'अन्न' नाम से व्यवहृत होती है। भोग-सामग्री का नाम ही अन्न होता है। हम जो अन्न खाते हैं, वह भी भोग्यत्वात् अन्न है एवं स्त्री-पुत्र-धन-गाय-घोड़ा-हाथी-जमीन-गाँव, इत्यादि सम्पत्ति भी–'भोग्यत्वात्' अन्न ही कहलाती है। इस में जो भोग्य अन्न है अर्थात् खाद्य पदार्थ है, वह शरीराग्नि में आहुत हो

---

१ द्रष्टव्य शत०ब्रा० ६।१।१।६।

कर अन्नाद बन जाते हैं। मुक्त अन्न-प्राण देवताओं के स्वरूप में परिणत हो जाता है अतएव इस मुक्तान्नचिति को हम देवचिति में शामिल कर लेते हैं, जिसका कि स्पष्टीकरण पूर्व प्रकरण में कर दिया गया है। इस प्रकार शरीर से सम्बन्ध रखने वाली-शरीर-स्वरूप सुरक्षित रखने वाली-कुल पाँच ही चितियाँ हैं। दूसरे भोग्य हैं-स्त्री आदि। इनका भी आत्मा से सम्बन्ध रहता है इसीलिए तो यावद् वित्तं तावदात्मा यह कहा जाता है। यह छठी वित्त-चिति कहलाती है। यह शरीर से बाहर है अतएव हम शरीरसम्बन्धेन-पाँच ही चितियाँ मानेंगे। बस, उक्त पांच-चितियाँ और छठी वित्तचिति, इनकी जो समष्टि है, उसे ही हम 'पद' कहेंगे। इस पद के केन्द्र में चूंकि षोडशी-आत्मा रहता है अतएव इस पद को, आत्मा का शरीर कहा जाता है। आत्मा-पद-पुनःपद, इन तीनों में दूसरा यही 'पद' है।

"अथ यावन्त्येवास्य कानिचिदुपकरणसामग्राण्युपनीयन्ते तान्यन्नानि वित्तचितिः। एतावद्धि धातुभिः कृतमिदं सर्वं पदं भवति। तदिदमात्मनः शरीरमाख्यायते"।

॥ इति पदस्वरूपनिदर्शनम् ॥२॥

आत्मा, पद, पुनःपद में से आत्मा और पद का स्वरूप बता दिया गया है। अब क्रम-प्राप्त पुनःपद का स्वरूप बताते हैं। पुनःपद को ही महिमा कहते हैं। हमने बतलाया है कि प्रजापति का आधा शरीर मर्त्य होता है, आधा अमृतस्वरूप होता है। उसके आधे अमृतभाग का नाम भी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ही है एवं मर्त्यभाग का (आत्मक्षर का) नाम भी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ही है। इनसे उत्पन्न होने वाले विकारक्षर के पञ्चीकृत जो प्राणादि पाँच यज्ञक्षर हैं वे भी अमृताविनाभूत ही रहते हैं। **अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्**[1] श्रुति से मानना पड़ता है कि कोई भी मर्त्य-पदार्थ बिना अमृत के नहीं रह सकता है। यज्ञक्षर भी चूंकि मर्त्य है अतएव मानना पड़ता है कि इसमें भी अमृत अवश्य ही रहता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि प्राण, आपः

---

१ शत०ब्रा० १०।५।२।४।

वाक्, अन्नाद, अन्न ये पाँचों यज्ञक्षर अमृतमर्त्यस्वरूप हैं। प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न पाँचों अमृत हैं, पाँचों मर्त्य हैं। इनमें से जो मर्त्यक्षर हैं उनसे तो शरीर अर्थात् पिण्ड बनता है। इन्हीं को पञ्चचिति कहा जाता है। मर्त्यभाग पिण्ड के बाहर नहीं रह सकते किन्तु अमृतभाग पिण्ड के बाहर चारों ओर बड़ी दूर तक व्याप्त रहते हैं। बस, इस अमृत-मण्डल को ही महिमा किंवा पुनःपद कहते हैं। अमृतभाग वस्तु-प्रत्यक्ष की अन्तिम सीमा तक रहता है एवं मर्त्यभाग पिण्ड तक ही रहता है। पिण्ड स्पृश्य है, महिमा दृश्य है। प्रत्यक्ष महिमा का ही होता है, न कि पिण्ड का। इस प्रकार वह अमृतमय प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न पिण्ड से बाहर तैंतीस अहर्गण तक अपना एक मण्डल बनाते हैं। इसी मण्डल को महिमा-मण्डल कहते हैं। ये पाँचों पिण्ड महिमा में भिन्नस्वरूप से रहते हैं। जो प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न पिण्ड में छन्दोवेद, भूतचिति, बीजचिति, अग्निचिति, देवचिति इत्यादि नामों से व्यवहृत होते हैं— वे ही महिमा-मण्डल में अमृत की वजह से वितानवेद, लोक, देव, सोम, पशु— इन नामों से व्यवहृत होने लगते हैं। हमने बताया था कि ब्रह्मा प्रतिष्ठा हैं, इन्द्र विक्षेपणधर्म्मा हैं, विष्णु आदानधर्म्मा हैं। विष्णु बाहर से सोम ला-ला कर अन्न आहुत किया करते हैं, इन्द्र बाहर फेंका करते हैं। यह इन्द्र पन्द्रह अहर्गण तक जाता है, विष्णु इक्कीस अहर्गण तक जाते हैं। बस, इस इन्द्र-विष्णु की स्पर्द्धा से वह अग्नि-सोम तैंतीस अहर्गण तक वितत हो जाता है। इस अग्नि-सोमात्मक-मण्डल का नाम ही वषट्कार-मण्डल है। तैंतीस में सत्रह अहर्गण तक अग्नि रहता है, बाद में तैंतीस तक सोम रहता है। सोम दाह्य पदार्थ है अतएव अग्नि में इसके आहुत होने से सत्रह वाला अग्नि इक्कीस अहर्गण तक चला जाता है। यही भगवान् विष्णु के त्रिविक्रम हैं। इस त्रिविक्रम विष्णु का विशद विवेचन परमेष्ठीकृष्ण-रहस्य में किया जाएगा। यहाँ पर हमें केवल इतना ही कहना है कि इन्द्र-विष्णु की स्पर्द्धा से तीन साहस्रियों का वितान होता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथां" ॥[1]

---

१ ऋग्वेद मं० ६।६६।८।

तीन साहस्रियाँ कौन-कौन सी हैं ? यह प्रश्न कर श्रुति स्वयं उसका उत्तर देती है—

"किं तत् सहस्रमिति इमे लोका इमे वेदा अथोवागिति ब्रूयात्" ।[१]

इन तीनों साहस्रियों को–लोकसाहस्री, वेदसाहस्री और वाक्साहस्री नामों से व्यवहृत करते हैं । हमने पद के विवेचन में–छन्द, वितान, रस, भेदेन वेद तीन प्रकार के बतलाए हैं । इन तीनों में से, इस पुनःपद में जो प्राणमय वेद होता है उसे 'वितान' वेद कहते हैं । केन्द्र से आगे की ओर उत्तरोत्तर छोटी होती हुई जो विष्कम्भ है, वही ऋक् है । सर्वतो विस्तारित वाङ्मय प्राण यजुः है एवं मण्डल साम है । इस वितानवेद का स्वरूप पद-विवेचन में बता दिया गया है । वेद के अनन्तर है–'लोक' । हमने बताया था कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ अग्नीषोमात्मक हैं । यह अग्नि मर्त्य-अमृत भेदेन दो प्रकार का होता है । मर्त्य अग्निपिण्ड तक रहता है, अमृत-अग्नि पिण्ड के बाहर इक्कीसवें अहर्गण तक रहता है एवं इक्कीस के बाहर सोम रहता है । इक्कीस तक रहने वाला जो अग्नि है वह घनादि तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है । जो घन अग्नि है, वह त्रिवृत्स्तोम तक रहता है । इसी को पृथिवीलोक कहते हैं । तरल अग्नि, जो कि अग्नि न कहला कर वायु कहलाता है, पञ्चदशस्तोम तक रहता है । इसी को अन्तरिक्षलोक कहते हैं एवं विरल अग्नि एकविंशस्तोम तक रहता है, यही तीसरा द्युलोक है । इस प्रकार पृथिवी-पृष्ठ से इक्कीस तक, तीन लोक हो जाते हैं । इसके ऊपर सत्ताईस अहर्गण तक भास्वर-सोम रहता है । तैंतीस तक दिक्सोम रहता है । दोनों को एक मान लिया जाता है । यही चौथा आपोलोक कहलाता है । इसी के लिए **अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः**[२] । यह कहा जाता है । इस प्रकार प्रत्येक भुवन संस्था में चार-चार लोक हो जाते हैं । लोक के बाद है–वाक् । हमने प्रजापति को, मन-प्राण-वाङ्मय बतलाया था । इस में जो वाक् है, वह तैंतीस तक जाती है । यह वाक् मन-प्राणाविनाभूत रहती है । वाक्-स्थूल है अतएव इस महिमा-मण्डल को 'वाङ्-मण्डल' कह दिया जाता है । वस्तुतः

---

१ ऐत०ब्रा० २८।७ । २ कौ०ब्रा० १८।२ ।

यहाँ मन और प्राण दोनों समझने चाहिए। इस में प्राणमय वेद है, मनोमय पशुस्तोमादि हैं। प्रजापति अनिरुक्त, निरुक्त भेदेन दो प्रकार का होता है। अनिरुक्त-प्रजापति केन्द्र में रहता है। सर्वप्रजापति तैंतीस तक रहता है। बस, जहाँ तक सर्वप्रजापति की सत्ता है, वहाँ तक वाक् रहती है। तैंतीस तक वाक् वितत रहती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"सहस्रधा पंचदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्" ॥[१]

इसी वाक् (हजार गौ) के तैंतीस के हिसाब से तीन विभाग हो जाते हैं। जिनका विवेचन परमेष्ठीकृष्ण-रहस्य में किया जाएगा। इन में छह-छह अहः के एक-एक स्तोम माने जाते हैं। यह वषट्कारस्वरूपस्तोम वाङ्मय है। चूँकि देवता इन्हीं पर रहते हैं अतएव इन्हें 'देवपात्र' भी कहा जाता है। वौषट् बोल कर ही देवताओं को आहुति दी जाती है। वषट्कार भी इन देवताओं का पात्र है एवं अन्नादस्वरूप अग्निमय जो प्राण हैं, वही देवता कहलाते हैं एवं सोममय जो अन्न है, वही उपकरणत्वात् पशु कहलाते हैं। बस, इस प्रकार वेद, लोक, देव, वषट्कारस्तोम, पशु, इन पाँचों की समष्टि का नाम ही महिमा है। इसी को पुनःपद कहते हैं।

वेद, स्वयम्भू की वस्तु है, यही प्राणक्षर है। लोक आपोमय होने से परमेष्ठी की वस्तु है। अन्नादमय देवता हमारे सम्बन्ध से पृथिवी की वस्तु है यही अन्नादक्षर है। वषट्कार वाङ्मय होने से सूर्य्य की वस्तु है, यही वाक्-क्षर है। पशु अन्नमय होने से चन्द्रमा की वस्तु है। यही 'अन्न' क्षर है।

---

१ ऋग्वेद मं० १०।११४।८।

१	वेद	प्राणमय	ऋग्-यजुः-सामानि अ.	प्राण
२	लोक	आपोमय	पृ. अ. द्यौरापः	आप
३	देव	अन्नादमय	अग्नि-वायु-आदित्य	अन्नाद
४	वषट्कारस्तोम	वाङ्मय	त्रि. प. एक. त्रि. त्रयस्त्रि.	वाक्
५	पशु	अन्नमय	ऋतवः-छन्दांसि	अन्न

इस प्रकार वही प्राणवाक् अन्नाद. अन्न, पुनःपद में दूसरा स्वरूप धारण कर उस आत्मा की 'महिमा' कहलाने लगते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथ पुनःपदे वेदाः, लोकाः, देवाः, वषट्कारस्तोमाः पशवः इति पञ्चैतेऽक्षितिनामानो यज्ञक्षराः स्यु। प्राणमयः प्रजापतिर्वेदाः। आपोमयो गावो लोकाः। अग्निमया अन्नादा देवाः। वाङ्मयानि देव-पात्राणि वषट्कारस्तोमाः। सोममयान्नानि पशवः। तदेतत् पञ्चक-मात्मनोमहिमाख्यायते" ॥

इस प्रकार स्वयम्भू आदि पाँचों ब्रह्मपुरों में वैश्वरूप्यों में—आत्मा, पद और पुनःपद समान रूप से रहते हैं। पाँच में ही नहीं अपितु यावन्मात्र पिण्डों में यच्चयावत् वस्तुएँ समान रूप से रहती हैं। एक तिल में भी आत्मा-पद-पुनःपद है। एक पहाड़ में भी आत्मा, पद, पुनःपद हैं। अब यहाँ पर एक प्रश्न यह है कि—जब पाँचों वैश्वरूप्यों में आत्मा, पद, पुनःपद समान-रूपेण युक्त रहते हैं तो फिर विश्व में वैचित्र्य क्यों होता है? हम देखते हैं कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ एक दूसरे से नहीं मिलते। मनुष्य, पशुओं से नहीं मिलते, पशु मनुष्य से नहीं मिलते। इतनी दूर जाने की भी क्या आव-श्यकता है? मनुष्य, मनुष्य से नहीं मिलता। एवमेव हम देखते हैं कि पाँचों मण्डल भी सर्वथा भिन्न-भिन्न स्वरूपयुक्त हैं। जब पाँचों में आत्मा, पद, पुनः-

पद समानरूपेण विद्यमान हैं तो फिर इस वैचित्र्य का क्या कारण है ? बस, इस प्रश्न का उत्तर दे कर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

हमने बताया कि पूर्वोक्त आत्मा, पद और पुनःपद, पाँचों मण्डलों में समान रूप से रहते हैं। इन की समानता रहने पर भी जिन धर्म्मों से, इनमें वैचित्र्य हो जाते हैं वे प्रत्येक मण्डल के प्रातिस्विक धर्म्म भिन्न-भिन्न होते हैं। इस वैचित्र्य के मूलविशेपक पाँचों में पृथक्-पृथक् रहते हैं। प्रत्येक मण्डल में छह-छह विशेषक रहते हैं। बस, छहों विशेषकों के कारण ही, पाँचों मण्डल भिन्न-भिन्नस्वरूप वाले हो जाते हैं। इन छहों विशेषकों के १–वेद, २–लोक, ३–प्राण, ४–भूत, ५–नाड़ी, ६–मनोता, ये नाम हैं। पहले स्वयम्भू-मण्डल को ही लीजिए। स्वयम्भू मण्डल–ब्रह्मनिःश्वसित कहलाता है एवं स्वयम्भूलोक, वाक्लोक कहलाता है। इस वाक् से, सत्यावाक् का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। स्वयम्भूप्राण ऋषि-प्राण कहलाता है। स्वयम्भूनाड़ी ऋत-सत्य नाम से व्यवहृत होती है, स्वयम्भूभूत आकाश कहलाता है तथा नियति, सूत्र एवं वेद, तीन मनोता कहलाते हैं। बस, इन विशेषकों के कारण ही इस का स्वरूप अन्य मण्डलों से विभिन्न हो जाता है।

१—'वेद'

१–स्वयम्भूः ।	स्वयम्भू-मण्डल के वेद का नाम है–'ब्रह्मनिःश्वसित'।
२–परमेष्ठी ।	परमेष्ठी-मण्डल के वेद का नाम है–'ब्रह्मस्वेद वेद'।
३–सूर्य्यः ।	सूर्य्यवेद का नाम है–'गायत्री–मात्रिक'।
४–पृथिवी ।	पृथिवीवेद का नाम है–'यज्ञमात्रिक'।
५–चन्द्रमाः ।	चन्द्रमण्डल के वेद का नाम है–'ब्रह्मस्वेद'।

२—'लोक'

१–स्वयम्भूः—	स्वयम्भूलोक का नाम है—'वाचोलोक'।
२–परमेष्ठी—	पारमेष्ठ्यलोक का नाम है—'वायुलोक'।
३–सूर्य्यः—	सूर्य्यलोक का नाम है—'ज्योतिर्लोक'।
४–चन्द्रमाः—	चन्द्रलोक का नाम है—'अमृतलोक'।
५–पृथिवीः—	पृथिवीलोक का नाम है—'रसलोक'।

स्वयम्भूमण्डल की जो वाक् है, वह सत्यावाक् कहलाती है। इसी सत्यावाक् से सर्वप्रथम आपोमय-परमेष्ठि-मण्डल उत्पन्न होता है। इसी के लिए 'सोऽपोऽसृजत वाचएव लोकात्' यह कहा जाता है। यह पारमेष्ठ्य पानी वायुमय है अतएव इसे वायुलोक कहा जाता है। पृथिवी भूतों का रस है जैसा कि श्रुति कहती है—

स (प्रजापतिः) भूरित्येवर्ग्वेदस्य रसमादत्त। सेयं पृथिव्यभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत् सोऽग्निरभवद्रसस्य रसः।"[१]

अतएव पृथिवी को रसलोक कहा जाता है। चन्द्रमा में सोम रहता है अतएव इसे अमृतलोक कहा जाता है। सूर्य्य को अग्निमयत्वात् ज्योतिर्लोक कहा जाता है। ये चारों लोक उसी वाक्-लोक से अर्थात् स्वयम्भू-यज्ञ से उत्पन्न होते हैं। सारे लोक स्वयम्भू के उदर में हैं अतएव त्वं यज्ञ स्त्वं वषट्-कार आपो (पर) ज्योति रसोऽमृतम्' कहा जाता है।

३– प्राण

१–स्वयम्भूः - स्वयम्भू-मण्डल के प्राण को कहते हैं—'ऋषिप्राण'
२–परमेष्ठी – परमेष्ठि-मण्डल के प्राण को कहते हैं—'पितरप्राण'
३–सूर्य्यः सूर्य-मण्डल के प्राण को कहते हैं—'देवप्राण'
४–चन्द्रमाः—चन्द्र-मण्डल के प्राण को कहते हैं—'गन्धर्वप्राण'
५–पृथिवी पृथिवीप्राण को कहते हैं—'वैश्वानरप्राण'

इन पाँचों प्राणों के अतिरिक्त एक छठा असुरप्राण और होता है। यह असुरप्राण–पृथिवी, चन्द्रमा और परमेष्ठी तीनों में रहता है। असुर तमोमय है अतएव स्वयम्भू में ज्ञान-ज्योति के प्रभाव से एवं सूर्य्य में भूत-ज्योति के प्रभाव से असुर-सत्ता नहीं रहती। इस प्रकार पृथिवी, चन्द्रमा और परमेष्ठी इन तीनों में दो-दो प्राण हो जाते हैं।

---

१ जै० उप० १।१।२।

४—'भूत'

१—स्वयम्भूः—स्वयम्भू-भूत को कहते हैं—'आकाश'
२—परमेष्ठी — पारमेष्ठ्य-भूत को कहते हैं— 'वायु'
३—सूर्य्यः—सौर-भूत को कहते हैं— 'सूर्य्य'
४—चन्द्रमा—चन्द्र-भूत को कहते हैं— 'जल'
५—पृथिवी— पार्थिव-भूत को कहते हैं— 'पृथिवी'

५—'नाडी'

१—स्वयम्भूः—स्वयम्भू-नाडी का नाम है—'ऋतसत्य'
२—परमेष्ठी —परमेष्ठी की नाडी का नाम है— 'ऊर्जस्वती'
३—सूर्य्यः — सूर्य्य-नाडी का नाम है—'सुषुम्णा'
४-५—पृथिवी—चन्द्रमा—पृथिवी एवं चन्द्रमा की नाडी है — 'श्रद्धा'

हमने बताया था कि पाँचों मण्डलों के पदार्थ हमारे शरीर में आते हैं। बस, जिन सूत्रों से तत्तल्लोक के पदार्थ हम में आते हैं, उन्हीं का नाम नाडी रखा जाता है। स्वयम्भू-मण्डल के जो पदार्थ हमारे पास जिस सूत्र द्वारा आते हैं, उस सूत्र का नाम ऋतसत्य सूत्र है। सत्य-सूत्र से सत्य पदार्थ आते हैं, ऋत सूत्र से, ऋत पदार्थ आते हैं। इसी ऋत-सत्य सूत्र के लिए कहा जाता है—

"सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकं भवन्ति।[1]
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः" ॥[2]

परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा, ये चारों सत्य हैं। इन चारों का अधिष्ठाता स्वयम्भू है अतएव उसे 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। परमेष्ठी के जो पदार्थ हमारे पास जिस सूत्र से, जिस नाडी से आते हैं, उसी का नाम **'ऊर्जस्वती'** नाडी है। एक प्रकार का जो-स्फूर्तिप्रद रस होता है, उस ऊर्करस सम्बन्ध से ही इस नाडी को **'ऊर्जस्वती'** कहा जाता है एवं सूर्य्य के जो पदार्थ, जिस सूत्र से हमारे पास आते हैं, उस सूत्र का नाम 'सुषुम्णा' है। पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा परिक्रमा लगाता है। चन्द्रमा के परिभ्रमण-वृत्त का नाम

---

१ ऐत०आर० २।३।८।
२ श्रीमद्भाग० पुराणम् १०।२।२६।

दक्ष-रेखा है। इस दक्ष रेखा को दोनों ओर से छूती हुई जो सौर नाडी है वही 'सुषुम्णा' कहलाती है। चन्द्र-कक्षा का स्पर्श कर यह बड़ी दूर तक लोकालोक तक चली गई है। चूंकि यह चन्द्रमा से स्पर्श करके आती है अतएव सौषुम्णश्चन्द्ररश्मिः यह कह दिया जाता है। पार्थिव-पदार्थ जब भी सूर्य्य की ओर जाएँगे, पहले उन्हें चन्द्रकक्षा में ही जाना पड़ेगा। अतएव **ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति**—यह कहा जाता है। चौथा है—चन्द्रमा। चन्द्रमा के पदार्थ जिस सूत्र से हमारे पास आते हैं उसी का नाम 'श्रद्धा' सूत्र है। यह सूत्र पृथिवी से बद्ध रहता है। पार्थिव पदार्थ चन्द्रमा में इसी श्रद्धा-सूत्र से जाते हैं एव चान्द्र-पदार्थ श्रद्धा-सूत्र द्वारा ही पृथिवी पर आते हैं अतएव दोनों की एक ही नाडी मान ली जाती है। आत्मा जब पृथिवीलोक से उत्क्रान्त हो कर चन्द्रमा में जाता है तो उसे पिण्डदान द्वारा इसी श्रद्धा-सूत्र के जरिए तृप्त किया जाता है। श्रद्धा द्वारा ही उसे पिण्ड मिलता है अतएव इस कर्म्म को 'श्राद्ध' कहा करते हैं, जिसका विस्तृत विवेचन विषयरहस्यान्तर्गत—'आत्म-रहस्य' में किया जाएगा। प्रकृत में केवल इतना ही कहना है कि जिन सूत्रों के द्वारा तत्तल्लोकों के पदार्थ हमारे पास आते हैं, उन्हें ही 'नाडी' कहा करते हैं।

६—'मनोता'

स्वयम्भू के मनोता—१-चित्, २-सूत्र, ३-वेद (रसवेद) ये तीन हैं। १-स्वयम्भू
परमेष्ठी के मनोता—१-भृगु, २-अङ्गिरा, ३-अत्रि ये तीन हैं। २—परमेष्ठी
सूर्य्य के मनोता—१-ज्योति, २-द्यौ, ३-आयु ये तीन हैं। ३—सूर्य्य
चन्द्रमा के मनोता—१-रेतः, २-श्रद्धा, ३-यशः ये तीन हैं। ४—चन्द्रमा
पृथिवी के मनोता—१-वाग्, २-गौ, ३-द्यौः ये तीन हैं। ५—पृथिवी।

संसार के प्रत्येक पदार्थ में—आश्रय-भाव, प्रयोजक-भाव, स्थायी-भाव, व्यञ्जक-भाव और संचारी-भाव ये पाँच-पाँच धर्म्म रहते हैं। इन पाँचों का विस्तृत विवेचन करना, प्रकृत से दूर जाना होगा। यहाँ पर, इन धर्म्मों की-आगन्तुक और प्रातिस्विक ये दो कोटियाँ समझनी चाहिए। प्रातिस्विक धर्म्म से वस्तु की सत्ता रहती है। ये प्रातिस्विक—धर्म्म प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न

होते हैं। औष्ण्य और प्रकाश ये अग्नि के प्रातिस्विक धर्म्म हैं। इन्हें ही 'स्वाभाविक धर्म्म' भी कहा जाता है। शैत्य और आप्यायन पानी के स्वाभाविक-धर्म्म कहलाते हैं। स्वाभाविक-धर्म्म से ही वस्तु की स्वरूप-रक्षा होती है। यदि जल का शैत्य और आप्यायनधर्म्म न रहे तो जल, जल ही न रहे। अग्नि में से यदि ताप निकल जाए तो अग्नि, अग्नि ही न रहे। दूसरे हैं आगन्तुक धर्म्म। ये आगन्तुक-धर्म्म अन्य वस्तु के सम्बन्ध से इनमें प्रविष्ट होते हैं एवं निकल भी जाते हैं। इनके आने से और निकल जाने से वस्तु-स्वरूप का कुछ नहीं बिगड़ता अतएव इन्हें 'व्यभिचारी' धर्म्म भी कहा जाता है। पानी में जो सूर्य्य का ताप घुस गया है वह आगन्तुक-धर्म्म है। उसके निकल जाने पर भी वस्तुस्वरूप नहीं बिगड़ता। व्यभिचारी आगन्तुक-धर्म्म भी दो प्रकार के होते हैं। कई आगन्तुक-धर्म्म तो ऐसे हैं जिन से वस्तु-स्वरूप नष्ट हो जाता है तथा कई आगन्तुक-धर्म्म ऐसे हैं जिन से वस्तुस्वरूप नष्ट नहीं होता। पानी को अग्नि पर चढ़ा दो, थोड़ी देर में इसके आगमन से सारा पानी, भाप बन कर उड़ जाएगा, यही विनाशक आगन्तुक-धर्म्म है एवं पानी में जो मामूली ताप का घुसना है वह सामान्य आगन्तुक-धर्म्म है। जिस प्रकार इन वस्तुओं में इन पूर्वोक्त आगन्तुकादि धर्म्मों की व्यवस्था है, ठीक उसी प्रकार ब्राह्मणादिचातुराश्रम्य-धर्म्मों में भी यही व्यवस्था है, जिसका विवेचन करना सर्वथा अप्राकृतिक होगा। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि कितने ही धर्म्म ऐसे होते हैं, जिनके रहने से, वस्तुसत्ता उच्छिन्न हो जाती है। बस, जिन धर्म्मों से स्वरूप-रक्षा होती है, उन्हीं को 'मनोता' कहा जाता है। तत्तत् पदार्थों के केन्द्र के आधार, यही प्रातिस्विक धर्म्म होते हैं। प्रातिस्विक धर्म्मों में ही पदार्थों के मन अर्थात् केन्द्र बद्ध रहते हैं अतएव तेषु (प्रातिस्विकस्वाभाविकधर्म्मेषु) हि तेषां मनांस्योतानि (युक्तानि) इस व्युत्पत्ति से इन्हें 'मनोता' कहा जाता है। यदि ये मनोता निकल जाते हैं तो वस्तु-स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है। अतएव श्रुति कहती है—

"तिस्रो वै देवानां मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि वाग्वै देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि गौर्वै देवानां मनोता

तस्यां हि तेषां मनांस्योतान्यग्निर्वै देवानां मनोता तस्मिन् हि तेषां मनांस्योतानि" ।[1]

बस, पूर्वोक्त नियति आदि पदार्थों से ही तत्-तत-मण्डलों का स्वरूप बना हुआ है अतएव हम उन्हें 'मनोता' कहने के लिए तय्यार हैं। वेद-सूत्र-नियति, जिन्हें कि वेदात्मा-सूत्रात्मा अन्तर्य्यामी कहा जाता है, स्वयम्भू के स्वाभाविक-धर्म्म हैं। यदि ये तीनों सत्य स्वयम्भू से निकाल दिए जाएँ तो स्वयम्भू, स्वयम्भू ही न रहे। एवमेव भृगु-अङ्गिरा-अत्रि से ही परमेष्ठि-मण्डल का स्वरूप बना हुआ है। अप्-वायु-सोम ये तीन भृगु कहलाते हैं। अग्नि-यम-आदित्य ये तीन अङ्गिरा कहलाते हैं। तीसरा मनोता एक ही प्रकार का है अतएव उसे नत्रिः इस व्युत्पत्ति से 'अत्रि' कहा जाता है। पारमेष्ठ्य आपो-मण्डल है। इसके मनोता भृगु-अङ्गिरा-अत्रि ये ही तीन हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः॥"[2]

यह आप-वायु-सोम, वास्तव में एक ही चीज़ है। भृगु की घनावस्था का नाम आप है। तरलावस्था का नाम वायु है। विरलावस्था का नाम सोम है अतएव तीनों को तीनों शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। एवमेव अङ्गिरा की घनावस्था का नाम अग्नि है, तरलावस्था का नाम वायु है, विरलावस्था का नाम आदित्य है। सारे विश्व का संचालन इन्हीं छहों से होता है। सोम और अग्नि ही विश्व के अधिष्ठाता हैं। तीसरा है—अत्रिप्राण। सूर्य्यरश्म्यव-रोधक जो प्राण है, उसे ही 'अत्रि' प्राण कहते हैं, जिसका कि विशद विवेचन 'अत्रिख्याति' में किया गया है। प्रसङ्गागत इतना और समझ लेना चाहिए कि भृगुप्राण संकोच-धर्म्मा है और अङ्गिराप्राण विकास-धर्म्मा हैं इसीलिए इनका नाम भृगु और अङ्गिरा रखा गया है। संसार के यच्चयावत् पिण्ड इसी सोम अर्थात् भृगु से बनते हैं एवं घनभाव को विशकलित कर देना, यह

---

१ ऐ०ब्रा०अ० ६।१०।१०। २ गोपथ ब्रा० १।३९।

अङ्गिरा का काम है। यह अङ्गिरा-प्राण, पिण्ड-वस्तु में से हर वक्त निकला करता है एवं उस पदार्थ को विशकलित करने की चेष्टा किया करता है। जो पदार्थ-पिण्ड स्व-स्वरूप हैं वे 'अङ्गी' किंवा अवयवी कहलाते हैं। बस, इस पिण्ड से द्रवभाव से अर्थात् विशकलित भाव से, चूँकि यह प्राण पिण्ड से बाहर निकलता है अतएव **अङ्गिनो रसति** इस व्युत्पत्ति से इसे 'अङ्गिरा' कहा जाता है। यद्यपि यह अङ्गिराप्राण, उस वस्तु को अनवरत विशकलित करने की चेष्टा किया करता है तथापि ठीक इसके विरुद्ध-धर्म्मा भृगुप्राण-सौम्य-प्राण इस अङ्गिरा को अपनी संकोच-शक्ति से दबाता रहता है। भृगु के कारण ही पदार्थ की सत्ता रहती है। भृगु सोम ही संसार का जीवन है। सोम प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा काला है, जैसा कि 'ज्योतिकृष्ण-रहस्य' में बता दिया गया है। ये सोम-स्वरूप कृष्ण भगवान् ही सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं। अब तक हमने भृगु और अङ्गिरा को भिन्न-जातीय प्राण बताया है परन्तु व्यवहारतः दोनों कहने को दो हैं, जब कि वास्तव में दोनों एक हैं। वही भृगु, अङ्गिरा बन जाता है; वही अङ्गिरा, भृगु बन जाता है। हमने बताया था कि अप्-वायु-सोम का नाम भृगु है। ये तीनों ही ऊपर से केन्द्र की ओर अनवरत आया करते हैं। इनके केन्द्राभिमुख आने से तरल पदार्थ घन होता जाता है। होते-होते जब वह घनता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है अर्थात् अप्-वायु-सोम तीनों एक बिन्दु पर आ जाते हैं, उसी समय उनका प्रतिफलन हो जाता है। तीनों का केन्द्र से 'रिफ्लेक्शन' (प्रतिच्छायाकरण) होता है। किसी भित्ति पर जब सूर्य्य-रश्मियाँ आती हैं तो उधर जाने के लिए रास्ता न मिलने के कारण, उनकी गति विरुद्ध हो जाती है। वे वापस लौट जाती हैं। बस, इसी प्रकार घनता के होते-होते जब तीनों भृगु एक ही बिन्दु पर आ जाते हैं तो उसी समय वे अङ्गिरा के रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार केन्द्र से बाहर की ओर अग्नि-वायु-आदित्य, तीनों जब विशकलन की—विकास की—पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं तो तीनों के एक सेण्टर पर पहुँचते ही, उसी क्षण तीनों की गति उलट जाती है। तीनों ही अङ्गिरा, भृगुस्वरूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार केवल अवस्था-भेद से, एक ही प्राण भृगु और अङ्गिरा इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। वस्तुतः जो भृगु है, वही अङ्गिरा है; जो अङ्गिरा है, वही भृगु है। **अग्नि ही सोम बन जाता है, सोम ही अग्नि**

बन जाता है। अतएव **अग्निः सर्वा देवता**[1] एवं **सोमः सर्वा देवता**[2] यह कहा जाता है। अस्तु, वाक् से भृगु बना हुआ है। यह प्राण, वस्तु को परिपक्व बना देता है, ठोस बना देता है अतएव इसे 'भृगु' कहा जाता है। ये दोनों प्राण अविनाभूत हैं। न अग्नि के बिना सोम रहता है, न सोम के बिना अग्नि रहती है। अतएव श्रुति कहती है—

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।।"[3]

अग्नि शुक्ल है। सोम कृष्ण है। अग्नि, राधा है; सोम, कृष्ण है। दोनों कहने को दो हैं, वास्तव में दोनों एक हैं। आधा शरीर राधा है, आधा शरीर कृष्ण है। यही एक-प्राण, दो देह धारण कर भगवान् कृष्ण और राधा सम्पूर्ण विश्व में, रासक्रीडा कर रहे हैं।

तीसरा है—अत्रि-प्राण। हमने बताया है कि यह अत्रिप्राण, सूर्य्य-रश्म्यवरोधक है। सूर्य्य-किरणें सीधी आती रहती हैं परन्तु अत्रिप्राण से जब वे किरणें रोक दी जाती हैं तो फिर रश्मियाँ आगे नहीं जा सकतीं। आती हुई सूर्य्य-रश्मियों को, यह प्राण चूस जाता है अतएव अस्तीति व्युत्पत्त्या इस प्राण का नाम 'अत्रि' प्राण रखा गया है। संसार में जितने पदार्थ पारदर्शी-अभावयुक्त दीख रहे हैं, वे सभी अत्रि-प्राण की ही महिमा हैं। जितने भी घन-पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं—जिनके कि आवरण से उधर की वस्तु नहीं दिखलाई पड़ती, उन सारे पदार्थों को अत्रिप्राणमय समझना चाहिए। यदि उन पदार्थों में से अत्रि-प्राण निकाल दिया जाए तो उसी समय सूर्य्य-रश्मि आर-पार निकल जाए। चूँकि काँच में अत्रि-प्राण अल्प-मात्रा में रहता है अतएव उसमें हो कर उधर की वस्तु देख लेते हैं। मिट्टी से काँच बनता है। इसमें केवल अत्रि-प्राण को हटाया जाता है। तात्पर्य्य यही है कि जो प्राण आती हुई सूर्य्य-रश्मियों को चूस कर पदार्थों को पारदर्शकत्वाभाव युक्त बना देता है, वही अत्रि-प्राण कहलाता है। यह 'अत्रि' इस व्युत्पत्ति से एवं न त्रिः इस व्युत्पत्ति

---

१ ऐ०ब्रा०अ० ६।३। २ ऐ०ब्रा० ६।३। ३ ऋग्वेद मं० ५।४४।१५।

से 'अत्रि' के नाम से व्यवहृत होता है। चन्द्रमा में जो प्रकाश दीख रहा है, वह सूर्य्य का प्रकाश है। चन्द्रमा में, अत्रि-प्राण भरा हुआ है। यदि अत्रि-प्राण न होता तो रश्मियाँ उस पार निकल जातीं। चन्द्रमा के स्वरूप को बनाने वाला यही अत्रि-प्राण है अतएव चन्द्रमा को अत्रि-पुत्र कहा जाता है। सारे प्रपञ्च से बताना हमें यही है कि—भृगु-अङ्गिरा-अत्रि, ये तीनों मनोता परमेष्ठिमण्डल के हैं एवं ज्योति, गौ, आयु, ये तीन मनोता सूर्य्य के हैं। ज्योति, तैंतीस हैं। यही तैंतीस देवता कहलाते हैं। गौ-एक हजार हैं। गौ के सम्बन्ध से ही सूर्य्य के लिए—**आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः**[1] यह कहा जाता है एवं आयु छत्तीस हजार (३६०००) हैं। सूर्य्य ही आयु के अधिष्ठाता हैं अतएव **सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**[2] कहा जाता है। चूँकि आयु छत्तीस हजार है अतएव मनुष्य कुल छत्तीस हजार दिन अर्थात् सौ वर्ष जिन्दा रहता है। चन्द्रमा के रेतः-श्रद्धा-यश ये तीन मनोता हैं। इसका निर्म्माण इसी चान्द्ररेतः मनोता से होता है एवं हमारे में जो एक श्रद्धा होती है, वह इसी चन्द्रमा की वस्तु है एवं यश भी इसी चान्द्र-सोम के कारण होता है। जिसमें सोम की मात्रा जितनी अधिक होगी वह उतना ही अधिक यशस्वी होगा। अतएव श्रुति कहती है—

"इमे मा पीता यशस उरूष्यवो रथं न गावः समनाह पर्वसु।
ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मा स्रामाद्यवयन्त्विन्दवः" ।।[3]

वाग्-गौ-द्यौ पृथिवी के मनोता हैं। इस प्रकार पाँचों मण्डलों में पाँचों के स्वरूप-संरक्षक तीन-तीन मनोता हैं। कुल पन्द्रह मनोता हो जाते हैं। पाँचों मण्डलों में रहने वाले, इन पन्द्रह मनोताओं के अलावा सारे ब्रह्माण्ड में कोई सोलहवीं वस्तु है ही नहीं। यही सर्वम् है। जो इन पाँचों में रहने वाले पन्द्रह (१५) मनोताओं को पहचान जाता है, वह विदित-वेदितव्य हो जाता है। विश्व-सम्पत्ति उसके चरणों पर लौटा करती है। अतएव वेद भगवान् कहते हैं—

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१८९।१–२।   २ ऋग्वेद मं० १।११५।१।
३ ऋग्वेद सं० ८।४८।५।

"यानि पञ्चधा त्रीणि-त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥"[1]

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती भेदेन सप्त प्रकार के हैं। ये सातों छन्द भी इस महिमा-मण्डल में रहते हैं। इस सारे प्रपञ्च से बताना हमें यही है कि आत्मा, पद, पुनःपद के समान रूपेण रहने पर भी पाँचों में, पूर्वोक्त पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं अतएव इसी भेद के कारण पाँचों में भेद है। चूँकि इन्हीं पाँचों से, विश्व के यच्चयावत् पदार्थों का निम्मार्ण होता है अतएव सारे पदार्थों में, ये सब पदार्थ रहते हैं। मात्रा के तारतम्य से उनमें स्वरूप-भेद हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वैश्वरूप्य में आत्मा-पद-वेद-लोक-प्राण-भूत-नाडी-मनोता-छन्द-पशु इतने पदार्थ समझने चाहिए। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"तदित्थमात्मा छन्दः शरीरं महिमा नाडीत्येतत् पञ्चकमेकैकं वैश्वरूप्यं भाव्यम् ।"

ऐसे-ऐसे वैश्वरूप्य, पाँच हो जाते हैं। वे पाँचों वैश्वरूप्य-स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार पाँचों भुवनों से, पृथक्त्वेन भावित जो पाँचों के—भूतात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, यज्ञात्मा, चिदात्मा—ये पाँच आत्मा हैं, इन सब की समष्टि का अधिष्ठाता जो एक व्यापक परमात्मा है जो कि इन पाँचों पर सवार है जिसके लिए कि यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्[2] यह कहा जाता है वही 'ईश्वर' कहलाता है। स्वयम्भू से पृथिवी तक ईश्वर व्याप्त है। इस ईश्वर-शरीर के पाँच अवयव हैं। पाँचों अवयव—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी नामों से व्यवहृत होते हैं। इन पाँचों अवयवों का जो अधिष्ठाता अव्यय है वही पुरुष कहलाता है, वही ईश्वर कहलाता है परन्तु ध्यान रहे कि हम विशिष्ट को ही ईश्वर कहेंगे। स्वयम्भू आदि यज्ञक्षर विशिष्ट जो 'अव्यय' है वही ईश्वर

---

१ छा० उप० २।२२।२।
२ तै० आ० १०।१०।२०। एवं श्वेताश्वर उप० ३।६।

कहलाता है। हम इसी ईश्वर के अंश हैं अतएव जो वस्तुएँ ईश्वर-शरीर में रहती हैं, ठीक वे ही, हमारे शरीर में रहती हैं। अन्तर केवल नाममात्र है। ईश्वर के शरीर में वे पाँचों स्वयम्भू आदि कहलाते हैं एवं जीव शरीर में वे ही पाँचों अव्यक्त, महान्, बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन एवं शरीर इन नामों से प्रसिद्ध हैं। शरीर में आया हुआ जो स्वयम्भू का हिस्सा है वह शरीर में आ कर अव्यक्त कहलाने लगता है। स्वयम्भू प्राणमय है अतएव इसे अव्यक्त कहा जा सकता है। अव्यक्त, अक्षर को कहते हैं जो कि व्यक्त-जगत् का अर्थात् क्षर का अमृत-भाग है। इसी अव्यक्त अक्षर से सारे क्षर उत्पन्न होते हैं। प्राण से ही, आप्-वागादि उत्पन्न होते हैं। सारे भूत विनाशी हैं। परन्तु इन भूतों में बैठा हुआ कूटस्थ, अव्यक्त अक्षर कभी नष्ट नहीं होता है। सारे भूतों की परमागति यही अक्षर है। अक्षर में जा कर सारे भूतप्रपञ्च विलीन हो जाते हैं। अतएव यह कहा जाता है—

"तथा-अक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवा-पियन्ति"।[1]

इस परागति-स्वरूप अक्षर का भी आलम्बन अव्ययपुरुष है। अक्षर तक पहुँच जाने पर तो पुनः सृष्टि-क्रम में आत्मा का आगमन हो जाता है किन्तु अक्षर-सेतु द्वारा उस अव्यय-पुरुष में पहुँचने के बाद फिर आवागमन का बन्धन एकान्ततः विच्छिन्न हो जाता है। अतएव भगवान् कहते हैं—

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।"[2]

"परस्तस्मात्तुभावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।"[3]

"अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।"[4]

---

१ मुण्डक उप० २।१।१। २ गीता ८।१८।
३ गीता ८।२०। ४ गीता ८।२१।

स्वयम्भू के अनन्तर है–'परमेष्ठी' । इसका जो हिस्सा हमारे में आता है, उसे महान् कहते हैं । वास्तव में महान् पर ही चिदात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है । अतएव–मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्[1] यह कहा जाता है । पूर्व-प्रकरण में चन्द्रमा से महान्-आत्मा का सम्बन्ध बताया गया था । उस से विरोध नहीं समझना चाहिए, क्यों कि चन्द्रमा में जो सोम आता है, वह परमेष्ठी की ही वस्तु है । इसके बाद है–सूर्य्य । सूर्य्य से जो वस्तु हमारे पास आती है, उसका नाम है–बुद्धि । पृथिवी से जो वस्तु बनती है, उसका नाम शरीर है एवं चन्द्रमा से जो वस्तु आती है, उसका नाम मन एवं इन्द्रियाँ हैं । इन पाँचों से अलग, इन सब का अधिष्ठाता परमपुरुष है जो कि अव्यय कहलाता है । इस प्रकार जो वस्तुएँ वहाँ हैं, वे ही नामान्तर से यहाँ हैं । उन्हीं वस्तुओं को बताते हुए भगवान् कहते हैं—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।"[2]

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।"[3]

जिस प्रकार ईश्वर के अवयव स्वयम्भू आदि कहलाते हैं एवं वह स्वयम्भू ओम् नाम से व्यवहृत होता है एवमेव जीवशरीरावयव अव्यक्तादि नाम से व्यवहृत होते हैं एवं यह 'अहम्' कहलाता है । ईश्वर अम् है, जीव अहम् है । अह्–अम् के मेल से ही ओम् बनता है एवं अहम्–अम् के मेल से ही अहम् बनता है । 'अ' स्वर है, ह् व्यञ्जन है । अ, सूक्ष्म है, ह् स्थूल है । अ, आत्मा है, ह् विश्व है । आत्मा की स्थूलावस्था का नाम ही 'विश्व' है । यह विश्व उसी आत्मा से उत्पन्न हो कर उसी पर प्रतिष्ठित रहता है । आत्मा के बिना विश्व एक सैकण्ड भी नहीं रह सकता । जिस प्रकार अर्थसृष्टि में, विश्व बिना आत्मा के प्रतिष्ठित नहीं रह सकता तथैव शब्दसृष्टि में भी स्थूलावस्थापन्न–ह् अर्थात् व्यंजन, बिना स्वर के नहीं रह सकता । स्वर ही,

१ गीता १४।३ । २ गीता ३।४२ । ३ कठ०उप० १।३।११ ।

व्यञ्जन की प्रतिष्ठा है । न शुद्ध व्यञ्जन उच्चारण में ही आ सकता है एवम् न प्रतिष्ठित ही रह सकता है । प्रकृत में हमें यही कहना है कि–अ, आत्मा है, ह् विश्व है । दोनों कण्ठ स्थानीय हैं, एक चीज हैं, केवल स्थूल-सूक्ष्म का अन्तर है । यह तो हुआ–'अह्' का अर्थ । अब चलिए 'अम्' की ओर । 'अम्' निपात है । इस का अर्थ है–'मिला होना', एकीभूत होना । जहाँ एक में दूसरे का निपतन बताया जाता है वहाँ 'अम्' का प्रयोग होता है । मिलाव की सूचना करने वाला 'अम्' निपात है । उदाहरणार्थ–'अन्धः, अम्बरम्, अम्बरः, अम्भः, अंशः, अङ्गम्' ये शब्द ही पर्य्याप्त होंगे । अम् (निपातंधत्ते) इति अन्धः । निपत्य वृणुते इत्यम्बरम् । अम् निपत्य वृणुते । वस्त्र शरीर पर गिर कर शरीर का संवरण कर लेता है । अतएव इसे अम्बर कहते हैं । अम्–(निपातं) वृणुते इत्यम्बरः । जिस में सब निपतित हो जाते हैं, उसी का नाम अम्बर है । ऐसा आकाश ही है । अम्-भसति-इत्यम्भः । अम्-निपत्य श्वयति (वर्द्धते गच्छति च) इत्यंशुः । सूर्य्य-रश्मियाँ एक स्थान पर टकरा कर वहाँ से विशकलित हो बड़ी दूर तक इधर-उधर फैलती हैं । अतएव इन्हें 'अंशु' कहा जाता है । अम् (एकत्रनिपातं) गृधति इत्यङ्गम् । शरीर के ही, अङ्गी के ही, आश्रित हस्तादि रहते हैं, अतएव इन्हें अङ्ग कहा जाता है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि जो आश्रित रहता है उसी को निपात कहते हैं । इसका सूचक 'अम्' है । अ, आत्मा है, यह किसी के अधीन नहीं है । यह आत्मा सूक्ष्म एवं स्वतन्त्र है । ह्–विश्व है, परतन्त्र है, स्थूल है । यह विश्व-आत्मा में निपतित है । सारा विश्व आत्मा के अधीन है । इसी आत्मा के आश्रित यह सारा विश्व है । बस, 'ओम्' शब्द का यही तात्पर्य्य है । जो विश्वावच्छिन्न आत्मा है, वही 'ओम्' कहलाता है । अ-आत्मा है, ईश्वर है अतएव यह पद कहलाता है । यह व्यापक ज्ञान पदस्वरूप है अर्थात् पूर्ण है । वह ऐश्वर ज्ञान, अन्य पद के गर्भ में नहीं है, अपितु यह स्वयं पद है अतएव पदान्तत्वात् ह् का उत्व हो जाता है एवं गुण और पूर्वरूप हो कर 'ओम्' बन जाता है । उसी विश्वात्मा का, ओम् का यह तनाव है । सारा प्रपञ्च उसी से बना हुआ है । अतएव– **मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्त्तिना ।** कहा जाता है । वही ओम् सत् है अर्थात् सत्तास्वरूप है । अस्ति-पदवाच्य केवल ओम् ही है अतएव उसके लिए 'ओं तत् सत्' कहा जाता है । कारण-सूक्ष्म-स्थूल ब्रह्म के ये तीन स्वरूप बताए

जाते हैं । तीनों में से ओम् में सूक्ष्म और स्थूल ब्रह्म है। जो एक अनादि-अनन्त अव्यय तत्त्व है, विज्ञान-घन है, वही ईश्वर कहलाता है। वही केन्द्र में रह कर अपनी सूक्ष्म (अक्षर) और स्थूल (क्षर) सृष्टि पर शासन करता है। जिसके लिए यह कहा जाता है—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।"[1]

जिसे कि पद-वाक्य-प्रमाण पारावारीण 'स्फोट' कहा करते हैं जो कि अनुच्चार्य है, **'स्वानुभवैकगम्य'** है। वही कारण-ब्रह्म कहलाता है। इसी अव्यय नामक कारण ब्रह्मालम्बन पर सूक्ष्म और स्थूल (चित्-सत्ता । ज्ञान-जगत् । अक्षर-क्षर)—नाचा करते हैं। यदि इस कारणतत्त्व को—पहचान लिया जाता है तो मनुष्य **कर्त्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तु**—समर्थ हो जाता है । इसीलिए भगवान् वेद पुरुष कहते हैं—

**"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा 'यदिच्छति तस्य तत्' ।।"[2]**

इसी कारण-स्वरूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म निराकार ब्रह्म को अर्द्ध-मात्रा युक्त बताया जाता है। **अर्द्ध-मात्रा स्थिता नित्यायानुच्चार्य्या विशेषतः**—यह इसी कारण-ब्रह्म के लिए कहा जाता है। स्वर की एक मात्रा होती है एवं व्यञ्जन की आधी मात्रा होती है अतएव ओम् के ऊपर जो अर्द्ध चन्द्राकार है वही आधी मात्रा है । इस प्रकार आधी मात्रा की जो व्याख्या टीकाकारों ने की है, नितान्त अशुद्ध है, अवैदिक है अतएव त्याज्य है। वैज्ञानिक-रहस्य के न जानने से ऐसी ही भयङ्कर भूलें हुआ करती हैं। उस आधी मात्रा के लिए तो साफ शब्दों में—**अनुच्चार्य्या नित्या**—कहा गया है। भला, उसका व्यञ्जन से क्या सम्बन्ध ? आधी का कुछ और ही रहस्य है। एक रुपये में से आठ आने में

---

१ गीता १८।६१ । २ कठ०उप० १।२।१७ । **'यदिच्छति तस्य तत्' इति पाठभेदः ब्रह्मलोके महीयते ।**

तो वह स्वयं है एवं आठ आने में स्थूल और सूक्ष्म जगत् है। वे चार-चार आने में विभक्त हैं। वह स्वयं आधी मात्रा में रहता है अतएव उसे अर्द्धमात्रा-युक्त बतलाया जाता है। यह आधी मात्रा वास्तव में अनुच्चार्य्या है, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम है। उसका शब्द से निर्वचन कथमपि नहीं किया जा सकता। बस इस अनुच्चार्य्या आधी-मात्रा से चारों ओर निकलने वाला जो ज्ञान-मण्डल है, उसे ही सूक्ष्म ब्रह्म कहते हैं। वही ज्ञानघना-आधी मात्रा, इस ज्ञान की जननी है एवं वही स्थूल-जगत् की जननी है। इस प्रकार सूक्ष्म और स्थूल दोनों जगत् उसी से उत्पन्न होते हैं एवं उसी पर प्रतिष्ठित रहते हैं। ईश्वर पूर्ण-ब्रह्म कहलाता है, वह पद है, किसी पद का अवयव नहीं है। बस, इसी पदत्व की विवक्षा से उत्व करके उसे 'ओम्' कहा जाता है। जीव पद नहीं है, पदावयव है। पद कह देते हैं। खगोल के आधे-मण्डल के रस से इसका निर्म्माण होता है अतएव यह अर्द्धेन्द्र कहलाता है। ईश्वर पूर्णेन्द्र है। ईश्वर के अवयवस्वरूप अनन्त जीव हैं अतएव हम उन्हें अवश्य ही 'अपद' कहने के लिए तय्यार हैं। जीव, ईश्वर नहीं है क्यों कि ईश्वर, समष्टि का नाम है एवं ईश्वर इनमें अवश्य ही व्याप्त है। अतएव—**नत्वहं तेषु ते मयि—** कहा जाता है। अतएव भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

"यद्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो न तरङ्गः॥"[1]

बस, जीव की इसी अपदत्व सम्पत्ति बताने के लिए ही यहाँ अपदान्त मान कर उत्वाभाव मान लिया जाता है अतएव जीव 'अहम्' ही रह जाता है। ईश्वर के ज्ञान से बना हुआ जो जगत् है, उस के केन्द्र में वह विज्ञान-घन ईश्वर बैठा हुआ है। केन्द्र में आलम्बन अर्द्धमात्रास्वरूप ज्ञानघन बैठा हुआ है एवं वही ज्ञान रश्मिरूप से बाहर निकल कर अपना एक गोल गुम्बद बनाता है। बस, उस ज्ञानगुम्बद के उदर में, उसी ज्ञान से बना हुआ जगत स्थिर है। केन्द्र से उठता हुआ चारों ओर बड़ी दूर तक परमेष्ठी-सूर्य्यादि को अपने उदर में लेता हुआ जो एक नित्यज्ञान है वही, 'ईश्वर' कहलाता है।

---

१ (ब्रह्मसूत्र)।

इसी को 'ओम्' कहते हैं। ओम् को बोलते समय, एक ध्वनि केन्द्र में से उठ कर, चारों ओर अपना गोल गुम्बद बनाती है। ओम्, में ही गोल-गुम्बद बनाने का सामर्थ्य है। अहम् शब्द के उच्चारण से ओम् जैसा गुम्बद नहीं बन सकता अतएव महर्षि कहते हैं–यदि तुम ईश्वर का स्वरूप पहचानना चाहते हो तो अपने बोले हुए 'ओम्' पर ध्यान दो। 'ओम्' शब्दोच्चारण में केन्द्र से उठ कर वाक् का जैसे गोल-मण्डल बन जाता है–बस, ठीक इसी प्रकार, ऐसा ही ईश्वर-स्वरूप समझो। वह ज्ञानघन केन्द्र से उठ कर अपना अनन्त-मण्डल बनाए हुए केन्द्र में स्थित है। तुम्हारी ओम् की ध्वनि के आकार जैसा ही ईश्वर का आकार है अतएव भगवान् पतञ्जलि कहते हैं–**तस्य वाचकः प्रणवः**–इस ईश्वर-जीव का विशद विवेचन–**संशयतदुच्छेदवाद**–के अनुवाद में देखना चाहिए। पूर्वोक्त जीव–ईश्वर का स्वरूप बताते हुए अभियुक्त कहते हैं—

"तथैव विज्ञानघनः स ओमिति प्रवर्त्तते मध्यगतः। तदाश्रितम्–अनन्तवैज्ञानिकनित्यमण्डलं तन्मण्डले ज्ञानविजम्भणं जगत्"।

यह अव्ययपुरुष शरीरपुरुष, छन्दपुरुष, महापुरुष, वेदपुरुष–अपने ये चार स्वरूप धारण किए रहता है। शरीरपुरुष को जीवात्मा कहते हैं। यह अव्यय का अंश है अतएव–**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**[1]–कहा जाता है। आत्मा अर्थात् भूतात्मा ही इसका रस है एवं शब्द-ब्रह्म को, छन्दपुरुष कहते हैं। 'अ' ही इसका रस है। एक 'अ' से ही सारी वर्ण-सृष्टि होती है। अतएव–**अकारो वै सर्वावाक् सा स्पृशोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति** यह कहा जाता है एवं महापुरुष संवत्सर ब्रह्म कहलाता है। इसका मूल आदित्य है। आदित्य ही, सम्वत्सर ब्रह्म कहलाता है। चौथा है–वेद पुरुष। ज्ञान ही इसका रस है। ज्ञान को, विज्ञानात्मा को–जिसका कि आधार ब्रह्म है, वेदपुरुष कहते हैं। इस प्रकार सर्वत्र ये चारों पुरुष व्याप्त हो रहे हैं। अतएव–**पुरुष एवेदं सर्वम्**[2]– यह कहा जाता है। इस प्रकार अपनी चार

---

१ गीता १५।७। २ सामवेद पू० ६।३।१३।५।

संस्थाएँ कायम कर वह अव्यय-पुरुष सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"चत्वारः पुरुषा इति बाध्वः। शरीरपुरुषश्छन्दःपुरुषो वेदपुरुषो महापुरुष इति। शरीरपुरुष इति यमवोचाम स य एवायं दैहिक आत्मा तस्य योऽयमशरीरः प्रज्ञात्मा स रसः। छन्दःपुरुष इति यमवोचाम-अक्षरसमाम्नाय एव तस्यैतस्याकारो रसः। वेदपुरुष इति यमवोचाम येन वेदान् वेद ऋग्वेदं-यजुर्वेदं-सामवेदं तस्यैतस्य ब्रह्मा रसः। महापुरुष इति यमवोचाम संवत्सर एव प्रध्वंसयन्नन्यानि, भूतान्यैक्या भावयन्नन्यानि तस्यैतस्यासावादित्यो रसः। स यश्चायमशरीरः प्रज्ञात्मा यश्चासावादित्य एकमेतदिति विद्यात्।"[१]

हमने बताया है कि 'अ' ब्रह्म है, 'उ' विश्व है। इसी ब्रह्म का रश्मिभूत जो अंश है वही अहम् कहलाने लगता है। अतएव 'अ' इति ब्रह्म। **तत्रागतमहमिति**–यह कहा जाता है। अस्तु, प्रकृत में हमें यही कहना है कि-स्वयम्भू आदि पञ्चात्माओं का अधिष्ठाता जो 'ओम्-पुरुष' है, वही ईश्वर-कहलाता है।

पञ्चमण्डलाधिष्ठाता जो जगत्-विशिष्ट आत्मा है, उसी का नाम 'ईश्वर' है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"पञ्चैतानि वैश्वरूप्याणि भवन्ति—स्वायंभुवं पारमेष्ठ्यं, सौरं, चान्द्रं, पार्थिवं चेति। तदित्थं पञ्चैतानि वैश्वरूप्याणि सिध्यन्ति। तदेतैः पञ्चभिर्भुवनैः पृथक्त्वेन भावितास्तेऽमी पञ्चात्मानोऽप्येक आत्मा—स ईश्वरः"॥

स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी–ये पाँच उस ईश्वर के अवयव हैं। पाँचों में परमेष्ठी आदि चारों का तो हमें प्रत्यक्ष होता है। चारों में प्रत्यक्ष-दृष्ट जो अन्नमय सोमशरीरधारी चन्द्रमा दिखलाई पड़ रहा है, वह सत्ताईस

---

१ ऐ. आ. ३।२।३।६।

दिन में अन्नादस्वरूप अग्निमयी पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगा लेता है। चन्द्रमा २७ दिन में एक परिक्रमा लगा लेता है अतएव चन्द्रसम्बन्धेन १३ महीने का एक सम्वत्सर हो जाता है एवं अन्नादमयी-अग्निस्वरूपा यह पृथिवी, चन्द्रमा को साथ लिए हुए ३६६ दिन में सूर्य्य की परिक्रमा लगा लेती है, अतएव श्रुति कहती है—

"सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्। देवत्रा रथ्योर्हिता" ।।[1]

ज्योतिषी लोग पृथिवी को एक स्थिर ग्रह मानते हैं। वे दृश्यमण्डल के अभिप्रायपरक अर्थ लगाते हैं। प्राकृतिक स्थिति में, पृथिवी अवश्य ही क्रान्तिवृत्त के ऊपर, जो कि अण्डाकार है; घूमती है। एवमेव वाङ्मय यह सूर्य्य भी, करीब-करीब पच्चीस हजार वर्ष में मय पृथिवी-चन्द्रमा के परमेष्ठी की प्रदक्षिणा लगा लेता है। ध्रुव नाक की परिक्रमा पच्चीस हजार वर्ष में लगाता है। क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठ केन्द्र का नाम ही 'नाक' है। इसी से अनुमान करना पड़ता है कि सूर्य्य को परमेष्ठी की परिक्रमा लगाने में अवश्य ही–पच्चीस हजार वर्ष लगते होंगे। एवमेव आपोमय-परमेष्ठी इन सब को उदर में लिए हुए–स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाती रहती है। यह प्राणमय-स्वयम्भू परमेष्ठी आदि सारे पिण्डों को अपने उदर में रखता हुआ अविचालीभाव से स्थित रहता है। परमेष्ठी-सूर्य्यादिवत् यह किसी के भी परिक्रमा नहीं लगाता है। जो चलने वाली वस्तु होती है उसे वैदिक-परिभाषा में 'रज' कहते हैं। चूंकि स्वयम्भू अविचाली है अतएव वह 'परोरजा' कहलाता है। इसी को ईश्वर कहते हैं। स्वयम्भू के उदर में रहने वाला परमेष्ठी है किंवा सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमा हैं, वे चारो प्रतिमा-प्रजापति कहलाते हैं। क्यों कि ईश्वर के सदृश गोलस्वरूप धारण कर स्वयम्भू-ईश्वरवत्, आत्म-पद-पुनःपदादि युक्त भुवनसंस्था धारण कर ईश्वर के उदर में ही रहते हैं, अतः सादृश्यात् हम इन चारों को 'प्रतिमा-प्रजापति' कहने के लिए तय्यार हैं एवं स्वयम्भू परम-प्रजापति कहलाता है —

---

१ सामवेद पू० २।२।६।१०।

"तत्रायं तावत् प्रत्यक्षः सोमशरीरश्चन्द्रमा-अन्नमयः केनचित् कालेन इमामग्निमयीं पृथिवीं परिक्रामति । पृथिवी चेयमन्नादमयी केनचित् कालेनैनमिन्द्रमयं सूर्यं प्रदक्षिणीकुरुते । सूर्यश्चायं वाङ्मयः केनचित् कालेनामुं विष्णुमयं परमेष्ठिनं प्रक्रमते । परमेष्ठी चापोमयः केनचित् कालेनामुं ब्रह्मप्रजापतिमयं स्वयम्भुवं प्रदक्षिणीकुरुते । स एष प्राणमयः स्वयम्भूरेवैतान् सर्वान् परमेष्ठ्यादीन् उदरे दधानोऽविचाली पर्य्यवतिष्ठते न कंचित् प्रदक्षिणीकुरुते । स परोरजा ईश्वर इत्याख्यायते । अथ योऽयं परमेष्ठी येवा सूर्यपृथिवीचन्द्रमसस्त एते चत्वारः प्रतिमा-प्रजापतयः । ईश्वरप्रतिमानेश्वरशरीरे तेषां प्रतिबुद्धत्वात्" ।।

इस प्रकार जिसे वैज्ञानिक महर्षि सत्य का सत्य कहा करते हैं, उसी स्वयम्भू नाम के परमप्रजापति से ये चार प्रतिमा-प्रजापति उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार चार सत्य एवं पाँचवाँ सत्य का सत्य स्वयम्भू नाम का परमप्रजापति पाँचों ही ऋत से घिरे रहते हैं ।

"तथा चंतं यमेक सत्यस्य सत्यमाचक्षते तस्मात् परमप्रजापतेरेतानि प्रतिमाप्रजापतिरूपाणि चत्वारि सत्यान्यसृज्यन्त । तानीमानि ऋतेनाभिनिवेष्टितानीतिविद्यात्" ।।

श्रुति कहती है—

**"ऋतमेव परमेष्ठि । ऋतं नात्येति किंचन ।
ऋते समुद्र आहितः । ऋते भूमिरियं श्रिता" ।।[1]**

ऋत ही परमेष्ठी है । ऋत का अतिक्रमरण करके कोई भी स्थिर नहीं है । ऋत के उदर में ही समुद्र है एवं ऋत के उदर में ही भूमि अर्थात् पिण्ड स्थिर है । इस श्रुति से सिद्ध हो जाता है कि परमेष्ठी का नाम ही ऋत है । परमाकाश में रहने वाला जो तत्त्व है उसी को परमे स्थाने तिष्ठति इस व्यु-

---

१ तै०ब्रा० १।५।५।१ ।

त्पत्ति से परमेष्ठी कहा जाता है । निरतिशयावकाश का एवं निरतिशयायतन का नाम ही परमत्व है । न जिस के आयतनी सीमा है, न जिसके अवकाश की सीमा है उसे ही 'परम' कहते हैं । ऐसा यह परमावकाश-निरायतन ऋतरूप जो वायु-सोम है, इन से युक्त जो अवकाश है वही भृगु होता है । तात्पर्य्य यही है कि प्रत्येक पदार्थ में 'भृगु' और 'अङ्गिरा' रहते हैं–जैसा कि मनोता प्रकरण में बताया गया है । यह भृगु ऋत पदार्थ है, अङ्गिरा, सकेन्द्र होने से पिण्ड में रहने से सत्य पदार्थ है । जिस पदार्थ में केन्द्र होता है वह ससीम होता है । वही नियत स्थिति के कारण सत्य कहलाता है । चूंकि अग्नि सकेन्द्र है, सायतन है अतएव हम इसे 'सत्य' कहने के लिए तय्यार हैं एवं अप्-वायु-सोम अकेन्द्र हैं—अशरीर हैं–पिण्ड के बाहर महिमा-मण्डल में रहते हैं अतएव हम इन्हें असीम एवं ऋत कहने के लिए तय्यार हैं । चूँकि यह ऋत हैं अतएव इनको हम निरतिशयायतनयुक्त कह सकते हैं । सायतन जो सत्य पिण्ड हैं उन्हीं के आयतन का अवसान माना जाता है । ससीम-पदार्थ की सीमा अवश्य होती है किन्तु असीम-पदार्थ की कोई सीमा नहीं होती । परमस्थान में जो रहे उसे परमेष्ठी कहते हैं । परमस्थान अथच परमत्व, निरतिशयावकाशत्व एवं निरतिशयायतनत्व का नाम है । ऐसे अप-वायु-सोम ये तीनों ऋत हैं अतएव हम इन्हें अवश्य ही परमेष्ठी कह सकते हैं । स्वयम्भू आदि पाँच पिण्ड हैं । पाँचो पिण्डों के चारों ओर अप्-वायु-सोम रहते हैं अतएव **तानीमानि सत्यानि ऋतेनाभिनिवेष्टितानीति विद्यात्** यह कहा गया है । इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"ऋत मेव० । इति श्रुतेऋ्तस्य परमेष्ठित्वावगमात् । परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी । परमत्वं तु निरतिशयावकाशत्वं निरतिशयायतनत्वं च । सोऽयं परमावकाशो निरायतनानामबादीनां यथोपपन्नावकाश एवोपपद्यते । सायतनानां तु सत्यानां मायानां (परिच्छिन्नानां) तत्तदायतनावसानं विवक्ष्यते" ॥

वास्तव में पाँचों के चारों ओर ऋत मौजूद है । पृथिवी के चारों ओर भी ऋत है । सूर्य्य के चारों ओर भी ऋत है । परमेष्ठी के चारों ओर भी ऋत है । स्वयम्भू के चारों ओर परात्परस्वरूप ऋत है । ऋत से ही सारी

सृष्टि होती है । ऋत ही सबका मूल है । इसीलिए तो श्रुति स्पष्ट शब्दों में–**ऋतं नात्येति किञ्चन**[1] कहती है । महिमा में चूँकि अप्-वायु-सोम ऋत रहते हैं, अतएव महिमा ऋत है एवं पिण्ड (पद) सत्य है । ये ऋत और सत्य दोनों ऋत के उदर में रहते हैं । पृथिवी की महिमा और पृथिवी-पिण्ड ऋत-सत्य, सौरमहिमा के (ऋत के) उदर में रहते हैं । सौर ऋतसत्य, पारमेष्ठ्य-महिमा के उदर में रहते हैं । पारमेष्ठ्य ऋतसत्य स्वयम्भू की महिमा के उदर में रहते हैं एवं स्वयम्भू सत्य और स्वयम्भू की महिमास्वरूप ऋत दोनों (महिमा-विशिष्ट-स्वयम्भू) परात्परस्वरूप ऋत के उदर में रहते हैं । ऐसी अवस्था में हम अवश्य ही **ऋतं नात्येति किञ्चन** कह सकते हैं ।

पिण्ड की जो महिमा है, तैंतीस तक रहने वाला पुनःपद है, उसे ही परम अवकाश में रहने के कारण परमाकाश कहते हैं । महिमा का नाम पर-माकाश है । इस में निम्नलिखित श्रुति ही प्रमाण है । श्रुति कहती है—

"अर्को देवानां परमे व्योमन्–अर्कस्य देवाः परमे व्योमन्" ।[2]

देवताओं के परमव्योम में, परमाकाश में, अर्क (प्रजापति) रहता है एवं अर्क के परमाकाश में देवता रहते हैं, यही श्रुति का तात्पर्य है ।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—यह प्रजापति देवता प्रविष्ट होते हुए देवताओं से उत्तम बन कर बैठा है अतएव **अर्को देवानां परमे-व्योम्नि**–कहा जाता है । केन्द्र में रह कर महिमा तक व्याप्त रहने वाला अग्नि ही अर्क है । इस की उत्तमचिति में सारे देवता रहते हैं अत-एव **अर्कस्य देवाः परमे व्योम्नि**—यह कहा है । अनिरुक्त और सर्व प्रजापति के दो स्वरूप रहते हैं । केन्द्र प्रजापति का नाम 'अनिरुक्त' प्रजापति है । इसी के लिए **प्रजापतिश्चरति**[3]–इत्यादि कहा जाता है । इस महिमाविष्ट प्रजापति को, जो कि तैंतीस के आगे चौतीसवें अहर्गण में रहता है, उसे ही 'सर्व-प्रजापति' कहते हैं । इसी के लिए **प्रजापते न त्वदेता०**[4] इत्यादि कहा जाता है ।

---

१ तै०ब्रा० १।५।५।१ । २ शत०ब्रा० ८।६।२।१६ ।
३ यजुर्वेद ३१।१६ । ४ यजुर्वेद १०।२० व २३।६५ ।

यही अनिरुक्त महिमा द्वारा सर्व बना हुआ है । इसी सर्व-प्रजापति के लिए **प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशो**[1] यह कहा जाता है। तैंतीस देवता महिमा-मण्डल में रहते हैं । अनिरुक्त-प्रजापति की अपेक्षा से तो, देवता प्रजापति के परमाकाश में बैठे हुए हैं एवं सर्व-प्रजापति की अपेक्षा से देवताओं के परमाकाश में प्रजापति (सर्व) बैठे हुए हैं, यही श्रुति का तात्पर्य है । इस श्रुति में सायतन पिण्डों का जो आयतनावतान है, महिमा-मण्डल है, उसे ही परमाकाश बताया गया है एवं इसी में अप्-वायु-सोम रहते हैं अतएव हम अवश्य ही ऋत को परमेष्ठी कह सकते हैं। पिण्ड की महिमा में परमेष्ठी नामक ऋत रहते हैं। यह पूर्वोक्त श्रुति-प्रमाण के आधार पर अवश्य ही कहा जा सकता है ।

"अर्को देवानां परमे व्योमन्-अर्कस्य देवाः परमे व्योमन् । इति मन्त्रव्याख्यायां-एतद्वै देवानां विशतां प्रजापतिरुत्तमोऽविशत् । तस्मादाह—अर्को देवानां परमे व्योमन्-इति । अयं वाऽअग्निरर्कस्तस्यैतदुत्तमायां चितौ सर्वे देवा विष्टास्तस्मादाह-अर्कस्य देवाः परमे व्योमन्-इति" ।।[2]

इति वाजिश्रुतो सायतनानामायतनावसानस्यैव परमाकाशत्वेना भप्रेतत्वात्" ।

मन्त्र-श्रुति का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

इस श्रुति से परोवरीण-प्रजापति अर्थात अनिरुक्त और सर्वप्रजापति, देवताओं से ऊपर और नीचे रहता है । अनिरुक्त-प्रजापति देवताओं से नीचे केन्द्र में रहता है, सर्व-प्रजापति, देवताओं से ऊपर ३४ वें स्थान में रहता है, यही सिद्ध होता है । श्रुति का यही तात्पर्य्य है । हम केवल महिमा को परमाकाश कहते हैं, यही कहना है—

"परोवरीणः प्रजापतिर्देवेभ्योऽधस्ताच्चोपरिष्टाच्चावतिष्ठते इत्युक्तं भवति" ।।

---

१ ता०ब्रा०अ० १७।११।३ ।   २ शत०ब्रा० ८।६।२।१६ ।

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणों से–'महिमा का, परमाकाश का, नाम परमेष्ठी है' जब यह सिद्ध हो जाता है तो ऋत का पुनःपद के अवकाश में, महिमाकाश में, सन्निवेश मान लेना पड़ता है। जो शरीर-वस्तु होती है, जिसके कोई केन्द्र नहीं होता, उसे ऋत कहा जाता है । पानी-सोम-वायु तीनों में केन्द्र नहीं है, तीनों अशरीर हैं अतएव तीनों को हम 'ऋत' कहने के लिए तय्यार हैं एवं इनके ऋत होने से ही इन्हें परमेष्ठी कहा जाता है। परमस्थान में चूँकि यह रहते हैं एवं परमस्थान असीमत्वात् ऋत है अतएव तत्र निवासात् अप्, वायु, सोम भी ऋत कहलाते हैं । अपिच चूँकि यह स्वयं भी ऋत है, इसलिए भी ऋत कहलाते हैं । इस प्रकार अप्-वायु-सोम को हम स्थानात् और स्वरूपात उभयथा ऋत कहने के लिए तय्यार हैं—

"तथा च परमेष्ठित्वाख्यानात्-ऋतस्यापि सत्यानां पुनःपदावकाशे संनिवेशो लक्ष्यते । अशरोरे हि ऋतशब्दः । आपो वायुः सोमः इत्यशरोरत्वाद् ऋतानि । ऋतत्वाच्च तत्र परमेष्ठिशब्दः प्रवर्तते । ता ह्यापः सत्यानामेषां परमे व्योम्नि तिष्ठन्ति" ।।

पाँचों सत्यों के चारों ओर ये ऋत पदार्थ रहते हैं । तथापि–यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि सूर्य्य से ऊपर का जो गोला है वह अप्-वायु-सोम से ही बना हुआ है अतएव उसे 'परमेष्ठी' ही कह दिया जाता है ।

पाँचों मण्डलों में से स्वयम्भू-पिण्ड के चारों ओर ऋक्-यजुः और साम-स्वरूप वाक्-समुद्र भरा हुआ है । स्वयम्भू प्राणमय है, प्राण को ही आकाश कहते हैं अतएव स्वयम्भू के वेद-समुद्र को 'नभस्वान्' समुद्र कहते हैं । इसी वाक्-लोक से पानी उत्पन्न होता है अतएव हम इसे आपो-समुद्र भी कह सकते हैं । बस, पहला यही वेद-समुद्र है । जैसा कि श्रुति कहती है—

"त्रयो ह वै समुद्राः अग्निर्यजुषां महाव्रतं साम्नां महदुक्थं ऋचाम्" ।। [1]

हमने बताया है कि सत्य के चारों ओर अप्-वायु-सोम तीनों ऋत रहते हैं । इसमें वाक्-समुद्र का तो पानी से सम्बन्ध है । अप्-सम्बन्ध से ही

१ शत०ब्रा० ९।५।२।१२ ।

इस वाक्-समुद्र को समुद्र कहा जाता है, वायु को अवर कहा जाता है एवं सोम को 'विश्वकर्म्मा' कहा जाता है ।

"स्वयम्भुवः सर्वतो वाचामृक्सामयजुषां त्रयः समुद्राः नभस्वान्नामानः" ॥१॥

स्वयम्भू के बाद है–परमेष्ठी । पारमेष्ठ्य का जो आप-समुद्र है उसे सरस्वान् कहते हैं । आप-सम्बन्धेन-सरस्वान् को समुद्र कहा जाता है वायु का नाम द्युतान है एवं सोम का नाम शिव है—

"परमेष्ठिनः समन्तात् अपां समुद्राः सरस्वान्नामानः" ॥२॥

सूर्य्य के चारों ओर मृत्यु नाम के सात समुद्र हैं । सूर्य्य का जो यम-वायु है उसी से मृत्यु होती है । अतएव–**मृत्युर्वा एष तपति**–यह कहा जाता है ।

इस सूर्य्य के सोलर-सिस्टम में सात वायु-स्तर होते हैं, यही मृत्यु नाम के सात समुद्र कहलाते हैं । पृथिवी के चारो ओर भी अर्णव नाम के सात समुद्र रहते हैं । इस प्रकार सारे समुद्र, चार भागों में बंटे हुए हैं—

"सूर्य्यस्य समन्ताद् वायूनां सप्तसमुद्राः मृत्युनामानः । पृथिव्यां समन्तात्-सप्त समुद्रा अर्णवनामानः । इत्थं चतुर्धा विभक्ताः सर्वे समुद्रा भवन्ति" ॥

पूर्व प्रकरण से भाष्यकार केवल समुद्र के विषय में बताते हैं । अप्, वायु और सोम को बताने के अभिप्राय से कहते हैं कि चारों सत्यों के चारों ओर अप्-वायु-सोम तीनों का ही परिश्रयण (वेष्टन) समझना चाहिए । सत्य-पिण्ड जब कि मन-प्राण-वाङ्मय है तो उनकी महिमा को भी अवश्य ही मन-प्राण-वाङ्मय मानना पड़ता है । इस में महिमा-मण्डल का जो वाक् है, उसे पानी समझना चाहिए । प्राण को वायु समझना चाहिए । मन को सोम समझना चाहिए । पुराणों में जिन सात समुद्र, सात आकाश, सात वायुलोक-सात द्वीपों का वर्णन आया है, वे इन्हीं महिमा-मण्डलस्थ ऋतों से सम्बन्ध रखते हैं।

हमने बताया है कि पृथिवी का वाङ्मण्डल सूर्य्य तक वितत रहता है। सूर्य्य तक ही नहीं रहता अपितु सूर्य्य से भी कहीं ऊपर तक है। इस वाङ्-मण्डल में तैतीस (३३) अहर्गण होते हैं। तैतीस अहर्गणों में पृथिवी से सूर्य्य तक अप्-वायु और सोम भरा रहता है। ये तीनों ही 'वायुरूप' हैं जैसा कि हम परमेष्ठि-मण्डल में बताने वाले हैं। तीनों में जो पानीस्वरूप वायु है, उसे ही समुद्र कहते हैं। इस वायुमय पानी के पृथिवीपृष्ठ से सूर्य्य तक सात स्तर हैं। यही सातों स्तर सात समुद्र हैं। हमारी पृथिवी में सात रस रहते हैं। इन सातों रसों का खजाना अन्तरिक्ष में है अर्थात् पृथिवो और सूर्य्य के बीच में है। वे सातों रस–दधि, मधु, घृत, क्षार, दुग्ध, स्वादूदक इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये सात समुद्र कहलाते हैं। इन सातों में सब से पहला समुद्र-क्षारसमुद्र है। नमक में तथा और पदार्थों में जितना भी क्षार उत्पन्न होता है, वह सब इसी क्षार-रस की महिमा है। पृथिवी के त्रिवृत्-स्तोम तक अर्थात् ४८ (अड़तालीस) कोस तक चारों ओर यह क्षार-रस भरा रहता है।

इसके बाद दधि-समुद्र है। काठिन्य भाव पैदा करने वाला जो खट्टा रस है वह इसी से उत्पन्न होता है। बाद में पञ्चदश-स्तोम पर जा कर, जो कि पञ्चदश-स्तोम अन्तरिक्ष लोक की वस्तु कहलाती है–घृत-समुद्र है अतएव **घृतमन्तरिक्षस्य** कहा जाता है। इसके बाद मधु का समुद्र है। सांठे (इक्षु, गन्ना) में चीनी में, शहद में, जो मधु-रस है वह इसी मधु-समुद्र से आता है। यह मधु पञ्चदश स्तोम के ऊपर रहने के कारण द्युलोक की वस्तु कहलाता है अतएव **मध्वमुष्य** कहा जाता है। इसके अनन्तर स्वादूदक समुद्र है। यह सब से अन्तिम स्तर है। यह रस सर्वथा मीठा होता है। मीठा से मधु-अभिप्रेत नहीं है अपितु पानी में जो एक मिठास है, वह इसी स्वादूदक की वस्तु है। इस प्रकार पृथिवी-पृष्ठ से सूर्य्य तक सातों रस भरे रहते हैं। पृथिवी से तैतीस अहर्गण तक पृथिवी की सत्ता मानी जाती है अतएव इन्हें पृथिवी के ही समुद्र बता दिया जाता है। इससे कहना यही है कि पृथिवी-पिण्ड पर, जिस पर कि हम बैठे हैं, आप को सात-समुद्र नहीं मिलेंगे। ये सातों समुद्र पृथिवी के और सूर्य्य के बीच में हैं। ये सातों ही रस, यद्यपि पृथिवी की वस्तु हैं तथापि इन सातों के अधिष्ठाता भगवान् सूर्य्य ही हैं। रस-उपरस, धातु-उपधातु, विष-

उपविष ताँबा, जस्ता, राँगा, अभ्रक, गन्धक, पारा, हरताल इत्यादि–यच्च–यावत् पदार्थ इसी सूर्य्य से बरसा करते हैं अतएव **नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः**[१] यह कहा जाता है ?

सूर्य्य, इन सब पदार्थों का दर्शपूर्णमास किया करता है । सब पदार्थ सूर्य्य में से ही पृथिवी पर गिरते हैं परन्तु सर्वदा ही नहीं गिरते । इनके गिरने का समय नियत है । जब इनका समय आता है तो ये जमीन पर प्रबल वेग से गिरने लगते हैं । बस, जिस समय, जमीन पर ये प्रबलरूप से गिरते हैं, उस वस्तु का पूर्ण मास कहलाता है । वहाँ से फिर धीरे-धीरे कम होने लगते हैं । होते–होते जब एकदम कम हो जाते हैं तो वही इस वस्तु का दर्श-पूर्ण-मास कहलाता है ।

इस प्रकार भगवान् सूर्य्य यच्चयावत् पदार्थों में भिन्न-भिन्न समय में दर्श-पूर्ण-मास किया करते हैं । सूर्य्य भगवान् जब किसी वस्तु का पूर्ण मास करने लगते हैं तो वह पदार्थ क्रमशः बढ़ने लगता है । पृथिवी पर उसकी उपलब्धि अधिकाधिक होने लगती है । इस बढ़ाव (वृद्धि) के क्रम को वैदिक भाषा में 'उद्ग्राम' कहा जाता है । यह उद्ग्राम जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो वही सूर्य्य उसका दर्श करने लगते हैं । इस दर्शेष्टि से वह पदार्थ धीरे-धीरे कम होने लगता है । इस कमी होने को वैदिक-भाषा में 'निग्राम' कहते हैं । चढ़ाव का नाम उद्ग्राम है, उतार का नाम 'निग्राम' है एवं जहाँ पर चढ़ाव की पराकाष्ठा होती है एवं उतार प्रारम्भ होता है, उस मध्य स्थान को–**उद्गीथ** कहते हैं अतएव तैंतीसवें अहर्गण वाली पृथिवी के सत्रहवें स्थान को उद्गीथ-प्रजापति कहा जाता है । अस्तु, वह पदार्थ कम होते-होते पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो फिर उस का पूर्ण-मास प्रारम्भ हो जाता है । इस प्रकार इसी सूर्य्य द्वारा भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न पदार्थों का दर्श-पूर्ण-मास हुआ करता है । इन रसों के दर्श-पूर्ण-मास के द्वार, नक्षत्र ही हैं । नक्षत्रों के द्वारा ही आन्तरिक्ष्यरस पृथिवीलोक पर आते हैं । सूर्य्य जिस

---

१ ऋग्वेद मं० ७।६३।४ ।

समय भरणी-नक्षत्र पर आता है उस समय मधु का पूर्ण-मास प्रारम्भ होता है। चैत्र में सूर्य्य भरणी पर आता है। बस, सूर्य्य के भरणी पर आते ही मधु की वृद्धि होने लगती है। इन दो महिनों में लाखों मन शहद जमीन पर गिर जाता है। इस शहद गिरने की विद्या को उपनिषदों में 'मधु' विद्या कहा जाता है। मधु-विद्या जानने वाला सूर्य्य की रश्मियों से चाहे जब खास तौर से वसन्त में खूब शहद ले सकता है। भारतवर्ष में जब भुवन-स्वर्ग-व्यवस्था थी एवं मनुष्य-देवता राज्य करते थे उस समय इस विद्या को जानने वाले देवताओं के अधिपति इन्द्र थे। इन्द्र मधु-विद्या जानते थे। इन्होंने महर्षि दधीचि को यह मधुविद्या सिखलाई भी एवं साथ में यह भी कह दिया था कि यदि आप बिना हमारी आज्ञा के यह मधुविद्या किसी को सिखाएँगे तो हम उसी क्षण आपका मस्तक काट लेंगे। जब अश्विनीकुमारों को पता चला कि महर्षि दधीचि मधु-विद्या जानते हैं तो वे समिधा ले कर उनके पास आए और कहा कि हे महर्षे! हम आप से मधुविद्या सीखना चाहते हैं। वैदिक समय में यह परिपाटी थी कि यदि कोई विद्यार्थी, किसी गुरु के पास जाता था तो अपने हाथ में समिधा ले जाता था। बस, समिधा ले कर जाने से ही गुरु जान लेते थे कि यह हमारा शिष्यत्व स्वीकार करने आया है एवं साथ में यह भी मर्य्यादा थी कि यदि समिधा ले कर कोई सामने आ जाता था तो उसे वह मना भी नहीं कर सकते थे। यदि उसकी जाति में उन्हें कुछ सन्देह होता था तो तुरन्त पूछ बैठते थे कि तुम्हारा क्या गोत्र है? मतलब यह है कि शिष्य उसे ही बनाते थे जो जात्या ब्राह्मण हो। इसी विषय का एक आख्यान-'छान्दोग्य-उपनिषत्' में मिलता है। जबाला नाम की एक स्त्री थी। उसके पुत्र का नाम 'सत्यकाम' था। सत्यकाम ने एक-दिन अपनी माता से कहा कि हे माता! मैं विद्या पढ़ने जाता हूँ। सम्भव है गुरु जी गोत्र पूछ बैठें। अतएव तुम मुझे बताओ, मेरा क्या गोत्र है? जबाला ने कहा कि पुत्र! युवावस्था में मैंने बहुत से महर्षियों की सेवा की थी। न मालूम तुम्हारी प्राप्ति किस से हुई? अतएव मैं नहीं जानती तुम्हारा क्या गोत्र है? मेरा नाम जबाला है, तुम्हारा नाम सत्यकाम है। बस, इसके अलावा मैं और कुछ नहीं जानती। यदि तुम से गुरुजी प्रश्न करें तो कह देना कि मेरा नाम सत्यकाम है, माता का नाम जबाला है। हे गुरुवर! मैं इसके अलावा और कुछ नहीं जानता।

इस प्रकार सत्यकाम माता से यह सब जान कर और अनुज्ञा ले कर, समिधा ग्रहण कर, महर्षि गौतम के पास आया और कहा कि हे महर्षे ! मैं ब्रह्मचारी अन्तेवासी बनना चाहता हूँ। महर्षि गौतम ने उसी समय प्रश्न किया कि तुम्हारा क्या गोत्र है ? उत्तर दिया सत्यकाम ने, 'कि महाराज, मैंने माता से पूछा था, किन्तु उसने यही कहा कि—पुत्र, मुझे मालूम नहीं। मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है। बस, मैं इतना ही जानती हूँ। यही तू अपने गुरु जी से कह देना। हे भगवान् ! जबाला का पुत्र मैं सत्यकाम हूँ। महर्षि गौतम ने सत्यकाम की इस सत्यवाणी पर मुग्ध हो कर कहा कि ऐसी सत्य बात, सिवाय ब्राह्मण के और कोई नहीं कह सकता। अतएव तुम अवश्य ही ब्राह्मण हो। हम तुम्हें अवश्य ही अपना शिष्य बनाएँगे। (छा. उ.) कहने का तात्पर्य्य यही है कि प्राचीन समय में ज्ञानार्थी समिधा ले कर गुरु के पास जाता था एवं गुरु उसे मना नहीं कर सकते थे। जब अश्विनी कुमार जैसे भिषग्वर समिधा ग्रहण कर दधीचि के पास पहुँचे तो उन्होंने अश्विनीकुमारों से कहा कि हम आपको मधु-विद्या सिखाने में आना-कानी नहीं कर सकते, परन्तु इन्द्र ने हम से कह दिया था कि यदि हमारी आज्ञा-बिना तुम किसी को सिखाओगे तो उसी समय तुम्हारा मस्तक कट जाएगा अतएव आप सोच लीजिए, हम सब तरह से प्रसन्न हैं। हम अपना प्राण त्याग कर भी आपको मधुविद्या सिखाने के लिए तय्यार हैं। अश्विनीकुमारों ने कहा, आप इस की जरा भी चिन्ता न करें। हम आपका मस्तक काट कर अश्व का मुख लगा देते हैं। बाद में जब इन्द्र इसे काट देगा तो हम वापस आपके वही मस्तक लगा देंगे। आखिर, अश्विनीकुमारों ने ऐसा ही किया। यह सारी कथा महर्षि शौनक प्रणीत बृहद्देवता में उपलब्ध होती है। जैसा कि महर्षि शौनक कहते हैं—

"सोऽयं त्वष्टारमेवाग्निः परंवन्दे च यन्मधु। प्रादाद् ब्रह्मा च सुप्रीतः पुत्राय यवथर्वणे। स चाभवद् ऋषिस्तेन ब्रह्मणावीर्य्यवत्तमः। तमृषि निषिषेधेन्द्रो मैवं वोचः क्वचिन्मधु। नहिप्रोक्ते मधुन्यस्मिन् जीवन्तं त्वोत्सृजाम्यहम्। तमृषि त्वश्विनौदेवौ विधिवन्मध्वयाचताम्। स च ताभ्यां तदाचष्टे यदुवाच शचीपतिः। तमब्रूतान्तु नास-

त्यावाश्वेन शिरसाभवत् । मध्वाशु ग्राहय त्वं तन्नेन्द्रश्च त्वां हनिष्यति । आश्वेन शिरसा तौ तु दध्यङ्ङाहयदश्विनौ । तदास्येन्द्रोऽहरत्सन्तं न्याधात्तामस्य तौ शिरः । इति ।"

कहना इस सारे प्रपञ्च से यही है कि इस मधुविद्या के जानने वाले, महर्षि दधीचि थे । भरणी इस मधु का उद्गीथ है । भरणी पर अतिमात्रा में मधु गिरता है । बस, मधु का यही पूर्ण-मास है । मास का तात्पर्य्य यही है कि इस समय भगवान् सूर्य्य बड़ी तादाद में रस बरसाया करते हैं । इसीलिए इस चैत्र-मास को 'मधु-मास' कहा जाता है । इसी मास में शहद का पूर्ण मास होता है । सूर्य्य जब भरणी पर आता है तो शहद अतिमात्रा में गिरने लगता है एवं वैशाख के प्रारम्भ से ही वह मधु धीरे-धीरे कम होने लगता हैं । इसी दर्शेष्टि के कारण मधु धीरे-धीरे कम होने लगता है । होते-होते जब सूर्य्य स्वातिनक्षत्र पर आ जाता है तो मधु का गिरना एकदम बन्द हो जाता है । आसोज (आश्विन) के महीने में मधु बिल्कुल नहीं गिरता एवं यहाँ से फिर धीरे-धीरे पूर्ण मधु आने लगता है—बढ़ते-बढ़ते फिर चैत्र में जा कर पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है । इस प्रकार छह महीने मधु की दर्शेष्टि होती है, छह महीने पूर्णमासेष्टि हुआ करती है । जिस प्रकार चैत्र में मधु अति मात्रा से गिरता है, ठीक इसके विरुद्ध आश्विन में घृत अतिमात्रा से बरसता है । जिस दिन सूर्य्य स्वातिनक्षत्र पर आता है, उस दिन पृथिवी पर लाखों मन घृत बरस जाता है । इसी प्रकार भिन्न-भिन्न समय में—पारा, ताबाँ, सोना, चाँदी, लोहा, गन्धक, अभ्रक, मधु, अमृत, घृत, इत्यादि यच्चयावत् पदार्थों का सूर्य्य द्वारा दर्शपूर्णमास हुआ करता है । किसी समय में किसी की दर्शेष्टि है, तो उसी समय दूसरे पदार्थ की पूर्ण-मासेष्टि हो रही होती है । इस प्रकार यह दर्श-पूर्ण-मास, जिसे वैज्ञानिक शब्दों में हम आदान-विसर्ग कह सकते हैं—अनवरत हुआ करता है । किसी की वस्तु है, किसी का पूर्ण-मास है एवं किसी का दर्श है । इस विभाग की, 'कालिक-विभाग' को ही वैदिक परिभाषा में 'ऋतु' विभाग कहा जाता है । जिस समय, जिस पदार्थ के उत्पन्न होने की ऋतु होती है अर्थात् समय होता है, वह उसी समय उत्पन्न हो सकता है, असमय में नहीं । आम्र-फल ग्रीष्म में ही उत्पन्न होता है । इसी

प्रकार सीताफल, अमरूद और सन्तरे ये फल शीत-ऋतु में ही उत्पन्न होते हैं, ग्रीष्म में नहीं। सब की उत्पत्ति अपने-अपने समय में होती है। ऋतु काल में ही गर्भाधान हो कर वस्तु की उत्पत्ति होती है। इसका एकमात्र कारण सूर्य्य-कृत दर्शपूर्ण मास-विभाग ही है, जो कि ऋतु-विभाग नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रकृत में हमें यही बताना है कि वस्तु सदा ही क्यों नहीं उत्पन्न होती? एवं सर्वत्र ही क्यों न होती? क्या कारण है बबूल, नीम के वृक्ष भारत में ही पैदा होते हैं, आम गरमी में ही क्यों पैदा होते हैं? इस वैषम्य के कालिक और दैशिक दो ही कारण हैं। कालिक-विभाग से एक वस्तु सदा ही उत्पन्न नहीं होती। उसका जब समय आता है, तभी वह उत्पन्न होती है।

दूसरा है–दैशिक-विभाग। ऋतु-विभाग से,–"सब वस्तु सदा ही क्यों नहीं उत्पन्न होती?" इस प्रश्न का उत्तर हो जाता है। अब बाकी रहता है-'उत्पन्न होती है तो सर्वत्र ही क्यों नहीं होती' यह प्रश्न? हमने बताया था कि सूर्य्य से भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न पदार्थ गिरा करते हैं। यहाँ पर प्रश्न होता है कि सूर्य्य में से जब ये पदार्थ गिरते हैं, तो फिर सर्वत्र ही समान-रूपेण क्यों नहीं गिरते? इस प्रश्न का उत्तर है–दैशिक-विभाग। ऊपर से गिरते हुए पदार्थों को पकड़ना प्राण का काम है। प्राण ही विधरण-धर्म्मा है। चूँकि ग्राहक प्राण सर्वत्र ही समानरूपेण नहीं रहते अपितु कहीं कोई प्राण अधिक रहता है, कहीं कोई अन्य प्राण अधिक रहता है। जहाँ जो प्राण रहता है, ऊपर से गिरती हुई वस्तु उसी देश में–उसी प्राण से सम्बद्ध होती है, अन्यत्र नहीं। यद्यपि मधु गिरता है सर्वत्र, परन्तु पुष्प में जो मधु-संग्राहक प्राण है वही उसको ग्रहण करता है एवं आम के पत्तों में जो मधु-संग्राहक प्राण होता है वही उसे पकड़ता है, अवशिष्ट सारा मधु उसी सूर्य्य में अपने प्रभव स्थान में चला जाता है। एवमेव सुवर्ण गिरता है सर्वत्र, परन्तु जिस स्थान पर सुवर्ण-संग्राहक प्राण रहता है, वहीं सुवर्ण की खान होती है अन्यत्र नहीं। तात्पर्य्य यही है कि चूँकि प्राण भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते हैं एवं प्राण ही आती हुई वस्तु को पकड़ते हैं अतएव जहाँ पर, जिस जाति के प्राण होते हैं, वहीं-वहीं तत्तज्जातीय-वस्तु की स्थिति रहती है, अन्यत्र नहीं। बस, इस दैशिक-विभाग के कारण ही, सब वस्तुएँ सर्वत्र उपलब्ध नहीं होतीं।

जिस प्रकार चतुर्दिक् अपना गोल-मण्डल बनाता हुआ शब्द केवल कर्णेन्द्रिय स्थित प्रज्ञा को ही बोध करवाता है, अन्य इन्द्रियों को नहीं तथैव चारों ओर से आने वाले सौर-पदार्थ-तत्तत् प्राणों पर ही आकर स्थिर होते हैं, अन्यत्र नहीं ।

इस प्रपञ्च से बताना हमें यही है कि यद्यपि सातों–रस हैं पृथिवी की वस्तु, किन्तु सातों का सूर्य्य द्वारा ही पृथिवी से सम्बन्ध होता है । जिस प्रकार पृथिवी-पिण्ड से सूर्य्य पर्य्यन्त, स्तौम्य पृथिवी के इक्कीसवें (२१) अहर्गण तक सात-सात हैं तथैव सात ही वायु भी हैं । सात ही जाति का वायु है । फिर एक-एक सात तरह के हो जाते हैं यही ४९ (उनचास) मरुत् कहलाते हैं । दोनों रसों की जो सन्धि है उसी के दोनों ओर रसस्वरूप पानी के रहने से 'द्वीप' कहा जाता है । ये ही सात द्वीप हैं । इससे कहीं यह न समझ लेना कि पृथिवी पर सात द्वीप नहीं हैं । स्तौम्यवत् पृथिवी-पिण्ड पर भी सात द्वीप अवश्य ही हैं, परन्तु जहाँ सात समुद्रों के साथ सात द्वीपों का नाम आए, वहाँ इन्हीं सातों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार पृथिवी की महिमा में जो अप्-वायु-सोम रहता है–उसमें जो अप् है वह वायु-मय है एवं उसी से सात-रस उत्पन्न होते हैं । पृथिवी में जो सात रसों का अनुभव होता है उनके प्रभव अन्तरिक्षस्थ यही रस हैं । इनमें सातवाँ समुद्र स्वादूदक नाम से प्रसिद्ध है । इसी स्वादूदक के लिए यह कहा जाता है—

"आपो हिष्ठामयो भुवस्तान ऊर्जे दधात नः ।
महे रणायचक्षसे योवः शिवतमो रसः" ॥

बस, यही हमारे सात समुद्र हैं । इन्हीं सातों के लिए यह कहा गया है—

"पृथिव्याः समन्तात् रसानां सप्त समुद्रा अर्णवानामानः" ।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य शिक्षा-प्रेमी लार्ड-मेकाले जब भारतवर्ष में आया एवं पुण्यधाम काशी में जब उसने-कॉलिज खोलना चाहा, तो उसके सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि यहाँ भूगोल कैसा रखना चाहिए ? कितनों ने ही

उस समय अपनी राय देते हुए कहा कि भारतवर्ष के लिए—भारतीय भूगोल ही उपयुक्त रहेगा। इस पर मेकाले ने कहा कि जो भूगोल, जमीन पर सात समुद्र होना बतलाता है एवं जिनका जमीन पर कहीं पता भी नहीं है—ऐसे झूठे भूगोल से क्या उपकार हो सकता है ? क्या, हम इसे मेकाले का साहस नहीं कह सकते ? बिना सोचे-समझे—भारतीय भूगोल पर आक्षेप करना, अपने उन्माद की पराकाष्ठा दिखलाना है। पूर्वोक्त रहस्य से सम्भव है, पाश्चात्य शिक्षा-प्रेमी अपने उन्माद को छोड़ने की कोशिश करेंगे।

यहाँ हमें यही बताना है कि प्रत्येक पिण्ड मन-प्राण-वाङ्मय है अतएव महिमा में भी ये ही तीनों रहेंगे। इसमें पानी-वाक् का रूप है। वायु-प्राण का रूप है। सोम मन का रूप है एवं अप्-वायु-सोम तीनों ही ऋत हैं। इसी ऋत को परमेष्ठी कहते हैं। पाँचों सत्यों के परमाकाश में—चूँकि ये तीनों ऋत रहते हैं अतएव—**ऋतमेव परमेष्ठि** यह अवश्य ही कहा जाता है। अपिच अतएव—**ऋतेनादित्या महिवो महित्वम्**—कहा जाता है। यद्यपि आदित्य-पिण्ड छोटा है तथापि ऋत से इसकी महिमा बहुत बड़ी हो जाती है। इस प्रकार, इस श्रुति प्रमाण से सत्य के चारों ओर अवश्य ही ऋत की सत्ता माननी चाहिए। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"अथवा चतुर्णामप्येषां सत्यानां त्रिविधैरपि ऋतैः परिश्रयणं प्रतिपत्तव्यम्। वाक्प्राणमनोभिः कृतात्मनां सत्यानां वाक्-प्राणमनोभिरेवकृतमहिमत्वात्। तत्र वाचोरूपमापः। प्राणरूपं वायुः। मनोरूपं चन्द्रमाः। आपो-वायु-सोम इति ऋतानि। ऋतमेवपरमेष्ठीत्याहुः। प्रतिसत्यं परमेव्योम्नि तेषां त्रयाणामवस्थानात्। श्रूयतेच ऋतेनादित्या महिवो महित्वम्" ॥

इस प्रकार उस स्वयम्भू-परमप्रजापति के परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये चार सत्यावतार कहलाते हैं। ये चारों ब्रह्मावतार नाम से बताए गए हैं। चारों में वही स्वयम्भू-ब्रह्म उतरा हुआ है एवं स्वयम्भू नाम के परम-प्रजापति का शामिल कर लेने से पाँच यज्ञ हो जाते हैं। यही पाँच सत्य कहलाते हैं। इन पाँचों में परमेष्ठ्यादि चारों क्रमिक-सत्यावतार हैं अतएव इनकी

अपेक्षा से स्वयम्भू, सत्य का सत्य कहलाने लगता है । ये चारों ही यथा-कथंचित् दृष्टिगोचर हो जाते हैं । आकाश में जो नीलिमा दीखती है, वही परमेष्ठी है एवं सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी प्रत्यक्ष ही हैं । चूँकि ये चारों भासित होते हैं, चारों का प्रत्यक्ष होता है अतएव इन चारों को हम 'शुक्ल' कहने के लिए तय्यार हैं । केवल स्वयम्भू अन्तर्निगूढ़ आत्मा नहीं दिखाई पड़ता अतएव हम इसे ही कृष्ण कहेंगे । परमेष्ठी आदि चारों, इसी में आहित रहते हैं एवं इस आहिती को ही आहुति कहते हैं । यही यज्ञ कहलाता है अतएव हम स्वयम्भू को यज्ञ कह सकते हैं । बस, यही हमारा 'ईश्वर-कृष्ण' है—

"त एते चत्वारः सत्यावतारा भवन्ति । तेऽमी ब्रह्मावतारा आख्याताः । स्वयंभुवा तु प्रजापतिना पञ्चयज्ञाः प्रतिपद्यन्ते । तान्येवपञ्च सत्यानि । तत्र चतुर्णां परमेष्ठ्यादीनां क्रमिकसत्यावतारत्वादयमेकः स्वयम्भूः सत्यस्य सत्यं भवति । चत्वारोऽपि ते परमेष्ठ्यादयः कथंचित् प्रत्यर्थं दृश्यन्ते इत्यतः प्रकाशाभवन्ति । एष त्वेक स्वयम्भू-निगूढ आत्मा नेद्धा दृश्यते इत्यतः कृष्ण इति प्रतिपद्यामहे । तं प्रत्येव चैते परमेष्ठ्यादयः उपाहितास्तिष्ठन्ति इत्येष यज्ञो भवति स ईश्वरः कृष्ण इति विद्यात्" ।।

।। इति ईश्वरकृष्णरहस्यं समाप्तम् ।।

ग्रन्थ प्राप्ति :—

कृष्णचन्द्र शर्म्मा,

"मानवाश्रम विद्यापीठ"

दुर्गापुरा रोड, जयपुर–३०२०१८